18 पाप

जानो और छोड़ो

आचार्य महाश्रमण

18
पाप

आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं–341306
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (01581) 226080, 224671
ई–मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

संपादक : साध्वी सुमतिप्रभा

Books are available online at
http:///books.jvbharati.org

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

दशम संस्करण : अगस्त 2017

मूल्य : अस्सी रुपये मात्र

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर

अर्हम्

प्राणी के सुख दुःख में पुण्य पाप का योग रहता है। सत्क्रिया से पुण्य और असत्क्रिया से पाप का बंध होता है। जैन वाङ्मय में पाप का बंध कराने वाली अठारह प्रवृत्तियां बताई गई हैं। उन्हें 'अठारह पाप' कहा जाता है। प्राणी के भवभ्रमण में पाप जिम्मेवार होते हैं। परम सुख की प्राप्ति के लिए इन अठारह पापों का परित्याग आवश्यक है।

प्रस्तुत पुस्तक अठारह पापों पर आधारित मेरे प्रवचनों का संपादित रूप है। इसके सम्पादन में साध्वी सुमतिप्रभा का श्रम मुखर हो रहा है। पाठक इस पुस्तक से अठारह पापों को समझकर उनसे विरत होने की प्रेरणा प्राप्त करे, शुभाशंसा।

आचार्य महाश्रमण

अनुक्रम

१. प्राणातिपात पाप	७
२. मृषावाद पाप	१४
३. अदत्तादान पाप	१९
४. मैथुन पाप	२५
५. परिग्रह पाप	३१
६. क्रोध पाप	३७
७. मान पाप	४३
८. माया पाप	४७
९. लोभ पाप	५२
१०. राग पाप	५८
११. द्वेष पाप	६३
१२. कलह पाप	६८
१३. अभ्याख्यान पाप	७३
१४. पैशुन्य पाप	७८
१५. परपरिवाद पाप	८४
१६. रति-अरति पाप	८९
१७. मायामृषा पाप	९४
१८. मिथ्यादर्शनशल्य पाप	९८

१. प्राणातिपात पाप

जैन साधु पंच महाव्रतधारी होता है। छेदोपस्थापनीय चारित्र को ग्रहण करते समय वह प्रथम महाव्रत में सम्पूर्ण प्राणातिपात से विरत रहने का संकल्प करता है। दसवेआलियं सूत्र में कहा गया है–**सव्वं भंते! पाणाइवायं पच्चक्खामि–से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाएज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।**

भंते! मैं सर्व प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूं। सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर जो भी प्राणी हैं, उनके प्राणों का अतिपात मैं स्वयं नहीं करूंगा, दूसरों से नहीं कराऊंगा और अतिपात करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से–मन से, वचन से, काया से न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

प्राणातिपात का अर्थ है–प्राणी के प्राणों का विसंयोग करना। जैन तत्त्वविद्या में प्राण के दस प्रकार बताए गए हैं–श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, चक्षुरिन्द्रिय प्राण, घ्राणेन्द्रिय प्राण, रसनेन्द्रिय प्राण, स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयुष्य प्राण। संसार में जीने वाले सभी प्राणी चाहे एकेन्द्रिय हों या पंचेन्द्रिय, प्राण सहित होते हैं, किन्तु सब प्राणियों में प्राणों की संख्या समान नहीं होती। एक इन्द्रिय वाले प्राणियों में चार प्राण, दो इन्द्रिय वाले प्राणियों में छह प्राण, तीन इन्द्रिय वाले प्राणियों में सात प्राण, चार इन्द्रिय वाले प्राणियों में आठ प्राण और पांच इन्द्रिय वाले संज्ञी प्राणियों में दस प्राण होते हैं। इनमें से किसी भी प्राण का अतिपात करना प्राणातिपात है।

केवल जीव की हिंसा करना ही अतिपात नहीं है, उसको किसी भी प्रकार से कष्ट देना भी प्राणातिपात है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—**पाणे य नाइवाएज्जा, से समिए त्ति वुच्चई ताई** अर्थात् जो जीवों की हिंसा नहीं करता वैसे मुनि को समित कहा जाता है। साधु को समित होना ही चाहिए। प्राणियों की हिंसा से बचना उसका धर्म है। हालांकि शरीरधारी के लिए लंबे समय तक हिंसा से पूर्णतया बचना कठिन होता है। शरीर को चलाने के लिए हिंसा का सहारा लेना ही पड़ता है। गृहस्थ के लिए तो हिंसा से पूर्णतया बचना कठिन है ही, साधु के लिए भी द्रव्य हिंसा से पूर्णतया अपना बचाव कर पाना बहुत मुश्किल है। हमारे साधु यदा-कदा रात को आलोयणा लेते हैं। आज हरियाली का स्पर्श हो गया, आज पृथ्वीकाय का स्पर्श हो गया, आज वर्षा के पानी का स्पर्श हो गया, आज वायुकाय की अयत्ना हो गई यानी हिंसा से पूर्णतया बचना उनके लिए भी कठिन हो जाता है। उस अयत्ना के लिए उन्हें आलोचना करनी होती है, शुद्धि करनी होती है। साधु पंचमी समिति के लिए जंगल में जाता है, उस दौरान भी कहीं न कहीं किसी रूप में हरियाली का स्पर्श हो जाता है तो इसमें हुई अयत्ना भी हिंसा की बात है। साधु को कभी नौका विहार भी करना पड़ता है तो वहां भी हिंसा की संभावना रहती है। इस प्रकार यत्र-तत्र, कहीं-कहीं साधु भी हिंसा से अपना बचाव नहीं कर पाता।

बहुधा दो शब्द काम में लिए जाते हैं—द्रव्य और भाव। इनके साथ हिंसा शब्द को जोड़ दें तो कह सकते हैं—द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। एक साधु जागरूक है, केवली है, वीतराग है, उसके द्वारा चलते-चलते आकस्मिक रूप से किसी प्राणी का वध हो गया तो कहा जा सकता है कि उस साधु के द्वारा द्रव्य हिंसा हुई है, भाव हिंसा नहीं हुई। सिद्धान्त कहता है—वह साधु हिंसा के पाप का भागी नहीं बनता है, अपितु जिस समय जीव हिंसा हुई, उसके तो पुण्य कर्म का बंध ही होता है, पाप कर्म का बंध नहीं होता।

हिंसा का विषय कुछ जटिल है। ओघनिर्युक्ति में एक जगह कहा गया—

आयाचेव अहिंसा आया हिंसेत्ति निच्छओ एस।
जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ हिंसओ इयरो।।७५४।।

आत्मा ही अहिंसा है, आत्मा ही हिंसा है। यह निश्चयनय की बात है। जो अप्रमत्त होता है, वह अहिंसक होता है और जो प्रमत्त होता है, वह हिंसक होता है।

जैन वाङ्मय में अठारह पाप बताए गए हैं। अठारह पापों में पहला पाप है प्राणातिपात पाप। प्राण-वियोग करने से जो कर्म बंधता है, वह प्राणातिपात पाप है।

हिंसा के तीन प्रकार बताए गए हैं—आरंभजा हिंसा, प्रतिरोधजा हिंसा और संकल्पजा हिंसा।

आरंभजा हिंसा—अन्न जीवन की आवश्यकता है। खाने को रोटी चाहिए, रोटी के लिए अन्न उपजाना जरूरी है और अन्न पैदा करने में जीव हिंसा होती ही है। खेत को जोतने, बोने, सिंचाई करने, काटने, फसल को घर लाने और उसका भंडारण करने तक न जाने कितनी प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है और इस दौरान सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। यह लक्ष्यपूर्वक की गई हिंसा नहीं है। कृषि और जीवन-निर्वाह के लिए किए जाने वाले उपक्रमों में ऐसा हो जाता है। यह आरंभजा हिंसा है।

मैं मध्यप्रदेश की यात्रा में था। एक गांव में थोड़ी देर के लिए रुका तो गांव के किसान लोग एकत्रित होकर मेरे पास आए। उनमें से एक व्यक्ति बोला—महात्माजी ! हम तो पापी लोग हैं। खेती करते हैं, उसमें दवा छिड़कते हैं। उस समय असंख्य जीवों की हिंसा हो जाती है। आप हमें कोई प्रायश्चित्त दे दें, जिससे हमारी शुद्धि हो जाए। मैंने उन्हें इस विषय में कुछ बता दिया। फिर मैंने सोचा कि खेती में भी हिंसा कैसे कम हो सके, इस पर भी प्रयास होना चाहिए। वहां भी हिंसा का अल्पीकरण होना चाहिए। यदा-कदा जब हमारे पास किसान सम्मेलन होते हैं तब मैं इस विषय में भी चर्चा करता हूं।

प्रतिरोधजा हिंसा—अपनी सुरक्षा के साथ-साथ देश की सुरक्षा करना हर आदमी का सांसारिक कर्तव्य होता है। शत्रु की सेना देश पर आक्रमण कर दे

तो सैनिक प्राणपण से उसका प्रतिरोध करते हैं। उस प्रतिरोध में बचाव पक्ष के और आक्रान्ता पक्ष के सैनिक बड़ी संख्या में मारे जाते हैं और हताहत होते हैं। यहां मूल लक्ष्य देश की सुरक्षा है। परन्तु प्रतिरोध करने में हिंसा हो जाती है। परमपूज्य गुरुदेव महाप्रज्ञ के दिल्ली प्रवास में मुझे उत्तर प्रदेश के नोएडा क्षेत्र में जाने का निर्देश मिला। मैं वहां गया। उस समय एक पूर्व सैनिक यदा-कदा हमारे पास आता। एक दिन बातचीत के क्रम में वह बोला—महाराज ! मेरी तो इच्छा है कि एक बार हिन्दुस्तान व पाकिस्तान में युद्ध छिड़ जाए और आरपार का फैसला हो जाए। उस समय कारगिल का संघर्ष चल रहा था। हमने कहा—भाई, हम तो शान्ति की बात करते हैं, तुम हिंसा की बात क्यों सोचते हो ? वह बोला—महाराज ! मेरी तो हार्दिक इच्छा है कि युद्ध शुरू हो जाए और हम रिटायर्ड फौजियों को भी उसमें भाग लेने का अवसर दिया जाए। मेरे प्राण भी युद्ध में काम आ जाएं। देश के लिए जान देना और जान लेना गौरव की बात होती है। मैंने उस सैनिक में देशभक्ति की उत्कट भावना देखी। इस प्रकार सुरक्षा के लिए प्रतिरोध के रूप में जो हिंसा होती है, वह प्रतिरोधजा हिंसा है। आरंभजा और प्रतिरोधजा हिंसा तो गृहस्थ जीवन में आवश्यक हो सकती है, लेकिन ये हिंसाएं कोई जघन्य अपराध की श्रेणी में नहीं आतीं।

संकल्पजा हिंसा—आवेग, आवेश और लोभ के वशीभूत होकर आदमी अपराध और हिंसा में चला जाता है। किसी को मारने का संकल्प करके उसकी हत्या कर देता है। मार-काट में कुछ लोगों को आनंद मिलता है। इस तरह के क्रूर कर्म में उन्हें सुख मिलता है। कुछ लोग आदतन अपराधी हो जाते हैं। दिन भर में जब तक कोई न कोई हिंसक कार्य वे नहीं करते, उन्हें चैन नहीं मिलता। यह संकल्पजा हिंसा है।

दो मित्र साथ-साथ कमाई करने के उद्देश्य से बाहर गए। दोनों ने तय किया था कि साथ मिलकर कमाएंगे। धंधे में घाटा हो या मुनाफा, हिस्सा आधा-आधा रहेगा। एक वर्ष के बाद संचित पूंजी को बराबर बांट लेंगे। दोनों ने ऐसा ही किया। दैवयोग से उन्हें धंधे में अच्छा मुनाफा हुआ। दोनों अपने गांव की ओर चल पड़े। उस समय आज की तरह यातायात के साधन सुलभ नहीं थे। दूर देश की यात्रा भी पैदल होती थी। दोनों मित्र दिन भर पैदल यात्रा

करते और शाम को रात्रि-विश्राम हेतु कहीं आश्रय ले लेते।

वर्ष भर की संचित जमा-पूंजी उनके पास थी। गांव पहुंच जाने के बाद उसका बंटवारा करने का निश्चय किया हुआ था। लेकिन यात्रा संपन्न कर गांव पहुंचने से पूर्व एक मित्र के मन में लोभजनित कुविचार पैदा हो गया। उसके मन में आया कि गांव पहुंचने के बाद तो कमाया हुआ धन बंट जाएगा। क्यों न ऐसा कुछ किया जाए कि सारा धन मेरे अकेले के हिस्से में आ जाए। विचारों का भी संक्रमण होता है। एक के मन में यह विचार उठा तो दूसरा भी कुछ ऐसा ही सोचने लगा। सारा धन हस्तगत करने का एक ही उपाय था कि दूसरे को मार दिया जाए। अन्ततः एक-दूसरे को मारने का उन दोनों ने अपने-अपने मन में पक्का निश्चय कर लिया। गुप्त रूप से योजना भी बना ली। एक ने दूसरे को जहर देकर मारने का प्लान बनाया और कहीं से लड्डुओं का प्रबंध कर उसमें तेज असर वाला विष मिला दिया। सोचा था कि मौका मिलने पर इन्हें मित्र को खिला कर हमेशा के लिए उससे छुटकारा पा लूंगा तो दूसरे ने मित्र को मौत की घाट उतारने के लिए एक छूरे का प्रबंध कर लिया।

योजना की क्रियान्विति का समय आ गया। रात्रि के समय एक मित्र सो गया, लेकिन दूसरे की आंखों से नींद गायब थी। वह मित्र को नींद आ जाने की प्रतीक्षा कर रहा था। जब उसे विश्वास हो गया कि यह गहरी नींद में है तो उसने छुरा निकाल कर उसकी छाती में भोंक दिया। सारे धन का अकेला मालिक होने की अनुभूति उसे रोमांचित कर रही थी। उसने अपने मृत साथी की गठरी खोली। अब हिस्सेदार कोई था नहीं। सारा धन और सारे लड्डू उसके थे। मित्र की लाश को बाद में ठिकाने लगाऊंगा, पहले आराम से लड्डुओं का भोग क्यों न लगा लिया जाए–ऐसा सोच कर लड्डुओं की वास्तविकता से अनजान उसने उसी समय उनका सेवन कर लिया। अपनी योजना में इतनी आसानी से सफल हो जाने की प्रसन्नता में उसने वे सारे विषैले लड्डू खाकर तृप्ति का अनुभव किया।

जहरीले लड्डुओं ने तत्काल अपना असर दिखाया और कुछ ही देर में उसका प्राणान्त हो गया।अब वहां पड़ी थी दो लाशें और उनके निकट रखी थी उनकी वर्ष भर की कमाई, जिसका उपभोग करने वाला उन दोनों में से कोई भी

नहीं बचा था, यह संकल्पजा हिंसा है।

हिंसा का एक कारण आक्रोश भी है। आदमी गुस्से में आकर कितनों को मार सकता है, पीट सकता है और तकलीफ भी दे सकता है। कोई व्यक्ति आवेश के वशीभूत होकर आत्महत्या तक कर लेता है तो कोई परहत्या में तत्पर हो जाता है। उस समय उसे अपने-पराए का कोई भान नहीं रहता। क्रोधावेश के कारण एक पुत्र अपने पिता की हत्या कर सकता है और एक पति अपनी पत्नी की हत्या कर सकता है। जब अर्जुनमाली ने छह पुरुषों को अपनी पत्नी के साथ बलात्कार करते देखा तो आक्रुष्ट होकर अपने इष्ट यक्ष को ललकारते हुए कहने लगा—अरे यक्ष! मैं बचपन से तेरी सेवा कर रहा हूं। पर तुमने मुझे दिया यह पतन, जिसे एक पशु भी नहीं देख सकता। या तो मेरी सहायता कर अन्यथा....। यक्ष तत्काल अर्जुन के शरीर में प्रविष्ट हो गया। अब अर्जुनमाली यक्ष-प्रतिमा के हाथ में स्थित मुद्गर को लेकर उन छहों पुरुषों की ओर दौड़ा और उन छहों के साथ अपनी पत्नी बन्धुमती को भी समाप्त कर दिया। इन सात व्यक्तियों की हिंसा से भी उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ। पांच महीने और तेरह दिन तक यक्षावेष्टित अर्जुन ने ११४१ मनुष्यों की हत्या कर डाली। कहने का तात्पर्य है कि क्रोधावेश में व्यक्ति कितनी हिंसाएं कर सकता है। अगर गुस्से पर नियंत्रण हो जाए, गुस्सा शान्त हो जाए तो आदमी अपने आपको हिंसा से काफी बचा सकता है। आदमी के जीवन में अहिंसा का विकास हो, अहिंसा की साधना चले। व्यक्ति मन, वचन, काया से हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने से बचने का प्रयास करे।

आचार्य भिक्षु के जीवन में कितनी अहिंसा थी। ऐसे कितने ही प्रसंग हैं, जब आचार्य भिक्षु ने विरोधियों के प्रहार का अहिंसक प्रतिकार करते हुए तनावपूर्ण प्रसंग को विनोद में परिवर्तित कर दिया।

एक विश्रुत प्रसंग है। आचार्य भिक्षु को मार्ग में एक आदमी मिला। उसने पूछा—तुम्हारा क्या नाम है ? स्वामीजी ने कहा—मुझे भीखण कहते हैं।

उस व्यक्ति ने तीक्ष्ण दृष्टि से स्वामीजी को देखा और कहा—ओह ! यह तो बुरा हुआ।

स्वामीजी ने कहा—बुरा क्या हुआ भाई ?

आगन्तुक व्यक्ति ने कहा—बुरा यह हुआ कि सवेरे-सवेरे तुम्हारा मुंह देख लिया। अब नरक में जाना पड़ेगा। यह निश्चित रूप से अपमानजनक बात है। आज कोई किसी से इस तरह की बात कहे तो उसे कड़ा हिंसक प्रतिकार झेलना पड़ सकता है। लेकिन वे तो आचार्य भिक्षु थे। इतिहास बताता है कि वे अपने उस विरोधी की बात पर आक्रुष्ट नहीं हुए। उन्होंने पूछा—तुम्हारा मुंह देखने वाले को कहां जाना पड़ता है?

मेरा मुंह देखने वाले को स्वर्ग या मोक्ष मिलता है—उस व्यक्ति ने किंचित अहंकार की भाषा में कहा।

स्वामीजी ने कहा—यद्यपि मेरी ऐसी मान्यता नहीं है कि किसी का मुंह देखने मात्र से स्वर्ग या नरक मिलता है। स्वर्ग और नरक की प्राप्ति तो नितान्त कर्म पर आधारित है। किन्तु तुम कह रहे हो कि तुम्हारा मुंह देखने से स्वर्ग मिलता है तो मेरे लिए अच्छा ही हुआ, मुझे तो स्वर्ग मिल जाएगा। तुम्हें क्या मिलेगा, यह तुम जानो।

आचार्य भिक्षु का जीवन संघर्षों की महागाथा है। दीर्घकाल तक उन्हें पूरा आहार सुलभ नहीं हुआ। पानी और स्थान की भी समस्या रही। फिर भी अनेकानेक विषम परिस्थितियों से जूझते हुए उन्होंने कठिन तप किया, विशिष्ट साधना की। वे एक गहरे स्वाध्यायी और महान साधक थे। उनके जीवन में अहिंसा मूर्तिमान थी।

प्राणातिपात ऐसा पाप है जो आदमी की आत्मा को भारी बनाने वाला होता है। हर व्यक्ति यह सोचे कि मैं हिंसा से अपने आपको कैसे और कितना बचा सकता हूं ? मेरे जीवन में हिंसा का अल्पीकरण कैसे हो सकता है ? अगर अहिंसक चेतना का विकास हो गया और जीव हिंसा से विरत रहने की भावना हमारे मन में जाग गई तो जीवन का उत्थान अवश्यंभावी है।

२. मृषावाद पाप

प्रश्न हुआ, दुनिया में सारभूत तत्त्व क्या है? किसी ने कहा—**अस्मिन्नसारे संसारे सारं सारंगलोचना** अर्थात् इस असार संसार में स्त्री यानी भोग सारभूत है। किसी आर्थिक दृष्टि वाले व्यक्ति ने कहा—**अस्मिन्नसारे संसारे, सारं सारस्य प्रापणम्** अर्थात् इस असार संसार में धन का अर्जन करना ही सारभूत है। कोई जुआरी वहां बैठा था, उसने कहा—**अस्मिन्नसारे संसारे, सारं द्यूतस्य क्रीड़नम्** अर्थात् इस असार संसार में जुआ खेलना सारभूत है। ईमानदारी के प्रति आस्था रखने वाले किसी व्यक्ति ने कहा—**अस्मिन्नसारे संसारे, सारं सत्यस्य सेवनम्** अर्थात् सत्य का सेवन करना सारभूत है। आर्हत वाङ्मय में कहा गया—**सच्चं लोयम्मि सारभूयं** अर्थात् सत्य लोक में सारभूत है। हमारी दुनिया में झूठ भी चलता है और सचाई भी जीवित है। आदमी यदा-कदा झूठ का सहारा ले लेता है। मेरा मानना है, अगर समाज में ईमानदारी प्रतिष्ठित रहे, लोग झूठ बोलने से बचते रहें तो समाज की व्यवस्था बहुत अच्छी बन सकती है, समाज की समस्याओं का समाधान हो सकता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान सन् १९२७ में श्री हरिभाऊ उपाध्याय जी और जमुनालालजी ने अपनी घोषणा के अनुरूप एक हरिजन बालक द्वारा निर्मित भोजन ग्रहण किया। इस घटना को समाचारपत्रों ने लाल सुर्खियों में स्थान दिया। फलतः उनके परिवार पर घोर संकट आ पड़ा और बारह-तेरह वर्षों तक जाति से बहिष्कृत रहना पड़ा। एक दिन उनके मित्र ने कहा—उपाध्यायजी! आप इतना कह दीजिए कि यह समाचार गलत है। जाति के गणमान्य लोग इसे प्रमाण मानकर बहिष्कार उठा लेंगे। सिद्धान्त एवं सत्य को श्वासोच्छ्वास की तरह मानने वाले श्री हरिभाऊ उपाध्यायजी ने बड़ी निडरता के साथ कहा—मनुष्य किसी न किसी बल के सहारे जीवित रहता है। किसी के पास

धनबल है तो किसी के पास विद्याबल। किसी के पास सत्ताबल है तो किसी के पास शरीरबल। मेरे पास तो सत्यबल के अतिरिक्त कोई बल नहीं है। उसी के सहारे मैं जी रहा हूं। सत्यबल को खोकर मैं जाति में भले ही आ जाऊंगा, लेकिन अपने जीवन से हाथ धो बैठूंगा। जिसकी सत्य के प्रति इतनी प्रगाढ़ निष्ठा होती है, उसका जीवन सबके लिए आदर्श बन जाता है।

जैन वाङ्मय में झूठ बोलने के चार कारण बताए गए हैं—**कोहा वा, लोहा वा, भया वा, हासा वा**—आदमी क्रोध के कारण झूठ बोल देता है, लोभ के कारण झूठ बोल देता है, भय के कारण झूठ बोल देता है और हंसी-मजाक में भी कभी-कभी झूठ बोल देता है। असत्य बोलने के दस भेद भी मिलते हैं—१. क्रोध मिश्रित २. मान मिश्रित ३. माया मिश्रित ४. लोभ मिश्रित ५. राग मिश्रित ६. द्वेष मिश्रित ७. हास्य मिश्रित ८. भय मिश्रित ९. आख्यायिक मिश्रित १०. उपपात मिश्रित।

जैन साधु के लिए तो मृषावाद सर्वथा त्याज्य है। वह धर्म रक्षा या प्राण रक्षा के लिए भी असत्य नहीं बोल सकता। दसवेआलियं सूत्र में कहा गया—

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए।।६/१२।।

इस समूचे लोक में मृषावाद सब साधुओं द्वारा गर्हित है और वह प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है। निर्ग्रन्थ असत्य न बोले।

इसी बात को पुष्ट करते हुए जिनदास चूर्णि में बताया गया है—बौद्ध भिक्षुओं के पांच शिक्षापदों में 'मृषावाद परिहार' को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि इसकी आराधना के बिना शेष शिक्षापदों की आराधना भी संभव नहीं होती। एक श्रावक था। उसने मृषावाद को छोड़कर चार अणुव्रत ग्रहण किए। कुछ समय पश्चात् वह एक-एक कर सभी व्रत तोड़ने लगा। एक बार उसके मित्र ने कहा—तुम व्रतों को क्यों तोड़ते हो? उसने कहा—नहीं तो, मैं व्रतों को कहां तोड़ता हूं। मित्र ने कहा—तुम झूठ बोलते हो। उसने कहा—मैंने झूठ बोलने का त्याग कब किया था? सत्य शिक्षापद के अभाव में उसने सारे व्रत तोड़ डाले।

वे व्यक्ति धन्य हैं, जिन्हें झूठ से घृणा है, जो झूठ का सहारा नहीं लेते। गुस्सा करना पाप है तो झूठ बोलना भी पाप है। कोई आदमी गुस्सा तो नहीं करता, किन्तु बात-बात में दूसरों को ठगता है, जबानरूपी मीठी छूरी दूसरों के गले पर चलाने का प्रयास करता है तो वह भी बहुत बड़ा पाप है। कभी-कभी तो साफ-साफ कहना और कड़ाई से कहना ज्यादा अच्छा है, बजाय इसके कि मीठा बोल कर किसी को ठगने की चेष्टा की जाए। आदमी को अगर जीवन में अध्यात्म की साधना करना है, नैतिकता की आराधना करना है तो वह झूठ बोलने से बचने का प्रयास करे।

सचाई की अपनी शक्ति होती है। संस्कृत साहित्य का प्रसिद्ध सूक्त है—**सत्यमेव जयते नानृतम्** अर्थात सत्य की विजय होती है, झूठ की नहीं। सत्य परेशान तो हो सकता है, परास्त नहीं होता। सत्य के सामने कठिनाइयां और संघर्ष तो आ सकते हैं, परन्तु जो तत्त्व सत्य से प्राप्त होता है, वह झूठ से प्राप्त नहीं हो सकता।

सत्य की कठोर साधना करना आसान काम नहीं है। कोई मनोबली व्यक्ति, जिसका यह संकल्प हो कि जीवन भले चला जाए, प्राण छूट जाए, पर मैं सचाई को नहीं छोड़ूंगा, ऐसा व्यक्ति ही ऐसी साधना कर सकता है। यद्यपि मैं दुनिया में नास्ति तो नहीं मानता। ऐसे महापुरुष भी मिल सकते हैं, जो सचाई के प्रति बहुत गहरी निष्ठा रखने वाले होते हैं। भले पैसा जाए तो जाए, पर वे सत्य को नहीं जाने देते।

एक प्रसंग प्राप्त होता है। गांधीजी उन दिनों दक्षिण अफ्रीका में वकालत कर रहे थे। एक व्यक्ति ने अपने पड़ौसी व्यक्ति का खून कर डाला। उसके बाद वह अपनी रक्षा के लिए बैरिस्टर गांधी की शरण में आया। वह जानता था कि सत्यनिष्ठ गांधी उसकी वकालत करेंगे तो वह छूट जाएगा। गांधीजी ने उसके मुकदमे का अध्ययन किया तो उन्हें विश्वास हो गया कि उसने सचमुच खून किया है। उस व्यक्ति ने कहा—वह तो मैंने किया है, इसीलिए तो आपके पास आया हूं। फीस के रूप में आपको एक हजार पौंड दूंगा। गांधीजी हंसे और बोले—मैं पैसे के लिए वकालत नहीं करता, सत्य के लिए करता हूं। गांधीजी ने वह मुकदमा नहीं लड़ा। उस व्यक्ति ने एक-एक हजार पौंड देकर

तीन वकीलों को खड़ा किया। उन वकीलों ने दांवपेच लगाकर उसे छुड़ा भी लिया। खुशी से फूला वह गांधीजी के पास आया और बोला—आप समझते थे कि आपके सिवाय दूसरा कोई मुझे बचा नहीं सकता। देखिए, मैं आपके सामने छूटकर आ गया। गांधीजी ने कहा—क्या तुम जानते हो कि तुम्हें अपने छुटकारे के लिए कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है? उस व्यक्ति ने गर्व से कहा—आप एक हजार पौंड की बात करते हैं। मैं इससे भी अधिक खर्च कर सकता था। गांधीजी बोले—मैं पेसे की बात नहीं करता। तुमने सचाई और ईमानदारी का खून किया है। क्या यह तुमने मामूली कीमत चुकाई है?

ईमानदारी और सचाई का जो मूल्य है, उसके सामने पैसा बहुत तुच्छ चीज है। आदमी यह प्रयास करे कि पैसा तो पास में भले कम आए, वह कोई बड़ी बात नहीं, पर ईमानदारीरूपी पैसा मेरे पास रहे। ईमानदारी से कमाए गए दो पैसे का भी बहुत मूल्य है, किन्तु बेईमानी से कमाए गए करोड़ों रुपये का भी कोई विशेष मूल्य नहीं है।

परमपूज्य गुरुदेव महाप्रज्ञजी अर्थ के संदर्भ में दो शब्दों का प्रयोग करते थे—अर्थ और अर्थाभास। **न्यायोपार्जितं अर्थः** अर्थात् न्याय और ईमानदारी से कमाया जाए, वह तो अर्थ है और बेईमानी से कमाया जाए, वह अर्थाभास है। जनता के पास अर्थाभास नहीं रहना चाहिए। अर्थ तो गृहस्थ को रखना पड़ता है, लेकिन अर्थाभास से आदमी बचने का प्रयास करे। कहा गया है—

सांच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदे सांच है, ता हिरदे प्रभु आप।।

सत्य एक प्रकार का बड़ा तप है और झूठ एक पाप है। लेकिन जिसके हृदय में सचाई विराजमान होती है, उसके हृदय में भगवत्ता विराजमान होती है।

साधु के लिए झूठ से बचना फिर भी थोड़ा आसान है, पर गृहस्थ के लिए झूठ से पूर्णतया बचना बहुत मुश्किल काम है। कोई व्यक्ति गृहस्थ जीवन जीते हुए, गार्हस्थ्य में रहते हुए, व्यापार-धंधा करते हुए, राजनीति में रहते हुए तथा और भी अन्य अनेक काम करते हुए सचाई की साधना करता है तो मैं उसे दुनिया का कोई दिव्य पुरुष मानता हूं। आदमी पूर्णतया सत्य की साधना न

भी कर सके, पर कुछ अंशों में प्रयास अवश्य करे। वह यह संकल्प करे कि मैं छोटा-मोटा कष्ट भले सहन कर लूं, पर झूठ बोलने से बचूं। कहीं सत्य बोलने में कठिनाई हो तो आदमी मौन कर ले, कुछ भी न बोले। गुरुदेव तुलसी ने अपने गीत में कहा—

सत्यवादिता सझै न थांस्यूं तो रहणो चुपचाप है।
कपटाई कर झूठ बोलणो जग में मोटो पाप है।।
एक बार तो झूठ सांच कर काम सारलै आप रो,
मोड़ो बेगो फूट्यां सरसी घड़ो भरीज्यां पाप रो।
आं लखणां स्यूं आखिर आवै पांती पश्चात्ताप है।।

झूठ बोलना एक बड़ा पाप माना गया है। बच्चों में सत्यवादिता के संस्कार भरे जाने चाहिए। उन्हें यह बात प्रारंभ से ही हृदयंगम कराई जाए कि बात को आगे-पीछे नहीं करना चाहिए, उसे तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। जो बात जैसी है, उसे उसी रूप में प्रस्तुत करनी चाहिए। जोड़-तोड़ करना, उसमें नमक-मिर्च लगाकर कहना, कुछ अंशों में सचाई को चोट पहुंचाने जैसा है। आदमी सरलतापूर्वक बोले, यथार्थ संभाषण का प्रयास करे। यह यथार्थ संभाषण जिसके जीवन की वृत्ति बन जाता है, उस आदमी का जीवन बड़ा पवित्र बन जाता है, धन्य बन जाता है। उसके जीवन में सचाई आ जाती है और वह अनेकानेक पापों से बचने की स्थिति में आ सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया—**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** अर्थात् धर्म का थोड़ा-सा अंश भी जीवन में आ जाता है तो वह आदमी को महान भय से उबारने वाला होता है। आदमी कोई भी काम-धंधा करे, व्यापार करे, फाइलें देखे, डॉक्टरी करे, वकालत करे, अध्यापन करे, कोई भी काम करे, यह चिंतन रहे कि मेरे कार्य में प्रामाणिकता है या नहीं ? मेरे कार्य में सचाई है या नहीं ? मैं अप्रामाणिकता से स्वयं को कितना बचा सकता हूं ? ऐसा चिंतन करते हुए व्यक्ति अपने आपको सचाई के पथ पर आगे बढ़ाने का प्रयास करे, यह जीवन की बहुत बड़ी सफलता है।

३. अदत्तादान पाप

जैन वाङ्मय में निर्दिष्ट अठारह पापों में तीसरा पाप है—अदत्तादान। यह शब्द अदत्त और आदान, इन दो शब्दों से मिलकर बना है। अदत्त का मतलब है नहीं दिया हुआ और आदान यानी ग्रहण करना। जो चीज उसके स्वामी द्वारा नहीं दी गई है, उसका आदान या ग्रहण करना अदत्तादान है। इसका सीधा-सा अर्थ है चोरी। एक जैन मुनि तो जीवनभर के लिए तीन करण और तीन योग से अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता है, किन्तु कुछ-कुछ साधक या संन्यासी भी ऐसे होते हैं, जिन्हें अदत्त ग्रहण का त्याग होता है।

अम्बड़ नामक एक संन्यासी था। वह बेले-बेले की तपस्या करता और तीसरे दिन पारणा करता। यद्यपि वह संन्यासी था, किन्तु आर्हत् सम्मत श्रमणोपासक के बारह व्रतों का पालन करता था। तप के प्रभाव से उसे वैक्रिय लब्धि, अवधिज्ञान आदि अनेक सिद्धियां प्राप्त थीं। वह वैक्रिय लब्धि द्वारा एक ही समय में अपने सौ रूप बनाकर सौ घरों से भिक्षा प्राप्त करने में समर्थ था। अनेक लोग उससे प्रभावित हुए। सात सौ व्यक्ति उसके पास संन्यास दीक्षा स्वीकार कर उसके शिष्य बन गए। अंबड़ और उसके शिष्य सचित्त-अचित्त तो कुछ भी ले सकते थे, किन्तु अदत्त नहीं लेते थे। एक बार अम्बड़ ने अपने सभी शिष्यों के साथ कपिलपुर नगर से प्रस्थान किया। चलते-चलते वे मार्ग भूल गए। इधर-उधर भटकने लगे। गर्मी का मौसम था। उनके साथ जो पीने का पानी था, वह समाप्त हो गया। सबको भयंकर प्यास लग गई। पास में गंगा नदी बह रही थी। वे सचित्त जल पीकर अपनी प्यास बुझा सकते थे, किन्तु उन्हें पानी देने वाला अथवा अनुमति देने वाला वहां कोई नहीं था। अदत्त वस्तु ग्रहण करने का उनको त्याग था। वे गंगाजल नहीं पी सके। प्यास से अत्यधिक व्याकुल हो रहे थे। जब यह प्रतीत होने लगा कि अब प्राण पखेरू

शीघ्र ही उड़ने वाले हैं, तब अम्बड़ सहित सात सौ शिष्यों ने जीवन पर्यन्त अनशन स्वीकार कर लिया। उन्होंने अपने कृत्यों की आलोचना की, प्रायश्चित्त किया और कुछ समय बाद सभी का स्वर्गवास हो गया। वे सब पांचवें देवलोक में उत्पन्न हुए। कहने का तात्पर्य है कि अदत्त ग्रहण न करने के संकल्प का उन्होंने कितनी दृढ़ता के साथ पालन किया था।

आर्हत् वाङ्मय में कहा गया है–

चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि ओग्गहंसि अजाइया।।

संयमी मुनि सजीव या निर्जीव, अल्प या बहुत, दंतशोधन मात्र वस्तु का भी उसके अधिकारी की आज्ञा लिए बिना स्वयं ग्रहण नहीं करे, न दूसरों से ग्रहण कराए और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी न करे।

चोरी करने वाला व्यक्ति उस वस्तु के मालिक के मन को आहत कर सकता है और वहां फिर हिंसा भी हो सकती है।

हम लोग प्रतिदिन दो बार प्रतिक्रमण करते हैं। इस दौरान अदत्त से संबंधित निर्धारित शब्दावली के द्वारा हम अपने स्वीकृत आचार को पुष्ट बनाने का प्रयास करते हैं। वह शब्दावली इस प्रकार है–

- प्रामाणिकता की भावना से मेरा चित्त भावित रहे।
- आज्ञा, अनुशासन और मर्यादा की भावना से मेरा चित्त भावित रहे।
- अपने संविभाग से अधिक न लूं, इस भावना से मेरा चित्त भावित रहे।
- अपने दायित्व के प्रति जागरूक रहूं, इस भावना से मेरा चित्त भावित रहे।

दसवेआलियं सूत्र में तो यहां तक कह दिया गया–

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे।
आयारभावतेणे य, कुव्वइ देवकिब्बिसं।।५/२/४६।।

जो मनुष्य तप का चोर, वाणी का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर होता है, वह किल्विषिक देव योग्य कर्म करता है। प्रश्न

हुआ, तप आदि का चोर कैसे होता है? समाधान मिला, किसी दुबले पतले शरीर वाले को देखकर किसी ने पूछा—क्या तपस्वी तुम्हीं हो? मान-सम्मान, यश-प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए 'हां, मैं ही हूं' अथवा 'क्या मेरे शरीर से पता नहीं चलता' अथवा 'साधु तो तपस्वी ही होता है' इस प्रकार का प्रतिपादन करने वाला तप का चोर होता है। इसी प्रकार प्रवचन, धर्मकथा आदि न करने पर भी अपने आपको धर्मकथी बताने वाला वाणी का चोर होता है। निम्न जाति में उत्पन्न होने पर भी गर्व के साथ स्वयं को उच्चजातीय बताने वाला रूप का चोर होता है। आचार कुशल न होने पर भी स्वयं को विशिष्ट आचारवान् के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करने वाला आचार का चोर होता है। किसी सूत्र और अर्थ को नहीं जानने वाला आचार्य आदि से वाचना, व्याख्यान आदि से सुनकर उस ज्ञान को ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार का भाव प्रदर्शित करता है कि यह तो मैं पहले से ही जानता था, ऐसा साधु भावचोर कहलाता है।

आचार्य सोमप्रभसूरी ने कहा—

परजनमनः पीडाक्रीड़ावनं वधभावना,
भवनमवनिव्यापिव्यापल्लताघनमण्डलम्।
कुगतिगमने मार्गः स्वर्गापवर्गपुरार्गलं,
नियतमनुपादेयं स्तेयं नृणां हितकांक्षिणाम्।।

हित के आकांक्षी पुरुषों के लिए चोरी अनुपादेय है, अग्रहणीय है, अस्वीकार्य है, अनाचरणीय है। यह चोरी दूसरे मनुष्यों के मन को पीड़ा पहुंचाने वाली है। मारने की भावना का भवनरूप है, भूमण्डल में व्याप्त विपत्तिरूप बेलों के लिए मेघमण्डल के समान है, कुगति में जाने का मार्ग है, स्वर्ग और मोक्ष के द्वार के आगे अर्गला है।

कभी कोई व्यक्ति लोभाविष्ट होकर चोरी कर लेता है और कई बार अभाव के कारण भी आदमी चोरी की प्रवृत्ति में चला जाता है। चूंकि आदमी विवश होता है, उसे खाने को पूरा नहीं मिलता है, वह चोरी का रास्ता अपना सकता है। क्योंकि भूख एक बड़ी समस्या है। प्राकृत साहित्य में कहा गया है—**खुहा समा वेयणा णत्थि** अर्थात् भूख के समान वेदना नहीं होती है। राजा

का तो फर्ज होता है कि इस बात पर ध्यान दे कि उसकी प्रजा में कोई भूखा न रहे, भूखा न सोए। ऐसे लोग, जिनको कोई रोजगार, धंधा नहीं मिला हुआ है, वे व्यक्ति भी चोरी जैसे कर्म को स्वीकार कर सकते हैं।

एक उक्ति मैंने सुनी है—'अभाव में स्वभाव बिगड़ता है।' अभाव की स्थिति में आदमी गलत काम में चला जाता है। यद्यपि अभाव में चोरी करना कोई उत्तम काम तो नहीं, पर जो अभावग्रस्त नहीं हैं, वे चोरी में जाएं, यह तो बहुत ज्यादा निदंनीय, गर्हणीय बात हो जाती है। 'पर धन धूलि समान' अर्थात् पराई वस्तु को धूल के समान मानना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि रजोगुण से उत्पन्न होने वाली काम और क्रोध दो वृत्तियां हैं, जो आदमी को अपराध की ओर ढकेल देती हैं। इन वृत्तियों पर नियंत्रण हो जाए और अभाव जैसी समस्या न रहे तो आदमी चौर्य कर्म से अपने आपको बचा सकता है। साधु जगह-जगह जाते हैं और लोगों को सन्मार्ग पर लाने का प्रयास करते हैं। कितनों को उपदेश देते हैं, प्रेरणा देते हैं तब कुछ लोग सन्मार्ग को स्वीकार भी करते हैं।

बच्चों को ऐसे संस्कार दिए जाएं कि वे चोरी जैसा कोई कृत्य न करें, ईमानदारी के रास्ते पर चलें। आदमी के मन में ऐसा संकल्प जागे कि पराई वस्तु मुझे लेनी ही नहीं है। आज भी कुछ लोग ऐसे मिलेंगे, जिनमें बड़ी ईमानदारी है। वे दूसरों की वस्तु को लेना नहीं चाहते। कहीं कोई वस्तु मिल भी जाए तो वे उसे बता देते हैं, सूचना कर देते हैं। करोड़ों रुपये जहां से लिए जा सकते हैं, वहां से भी न लेना आदमी की पवित्रता का परिचायक होता है। साधु-साध्वियों के उपदेश से भीतर में प्रेरणा जागती है कि मैं ऐसा काम नहीं करूंगा, जिस काम से मेरी आत्मा मलिन बने और वह अधोगति में जाए। चोरी करना तो एक प्रकार की हिंसा है। व्यक्ति एक जन्म में चोरी करता है तो पता नहीं अगले जन्म में वे कर्म उसको किस रूप में भोगने पड़ जाएं ? कितनी तकलीफ उसके जीवन में आ जाए ? इसलिए थोड़ा कष्ट पाना स्वीकार कर लेना चाहिए, परन्तु आदमी को चोरी जैसा काम नहीं करना चाहिए।

चोरी सजीव वस्तु की भी हो सकती है और निर्जीव वस्तु की भी हो सकती है। चोरी छोटी वस्तु की भी हो सकती है और बड़ी वस्तु की भी हो

सकती है। चोरी थोड़ी भी हो सकती है और ज्यादा भी हो सकती है। साधु का तो नियम है पूर्ण प्रामाणिकता का पालन करना। साधु को तो किसी के मकान में बैठना भी हो तो पहले मकान वालों की आज्ञा लेनी होती है कि मैं यहां बैठ जाऊं क्या? किसी के घर में प्रवास करना हो तो पहले पूछना होता है कि आपकी आज्ञा हो तो हम इस मकान में रह जाएं यानी पूरी प्रामाणिकता की साधना करना साधु का धर्म होता है।

जहां चोरी जैसे अपराध चलते हैं, वे यदि ऐसे ठीक न हों तो शासक का फर्ज है कि व्यवस्था के द्वारा, कड़ाई के द्वारा, दण्ड संहिता के द्वारा भी चोरी जैसे अपराधों पर नियंत्रण करने का प्रयास करे। दुर्जनों के द्वारा सज्जन दुःखित हो जाएं, यह शासक के लिए चिन्तनीय बात होती है। सज्जनों की सुरक्षा करना राजा या शासक का फर्ज है। दुर्जन किसी को दुःख देते रहें, किसी की चोरियां करते रहें, डाका डालते रहें और शासक मौन बैठा रहे, कोई प्रतिकार न करे तो मेरा सोचना है कि उस शासक को गद्दी छोड़ देनी चाहिए। जो प्रतिकार करने की क्षमता न रखे, कुछ कह न सके, कुछ व्यवस्था न दे सके तो अच्छा है कि वह गद्दी से नीचे उतर जाए। गद्दी पर रहे तो अपनी प्रजा की रक्षा करे। वास्तव में राजा जनता की सेवा करने के लिए होता है। जनता अरक्षित या अत्राण नहीं रहनी चाहिए। जनता सुख में है, शांति में है और विकास कर रही है तो वह राजा की सफलता है। जहां चोरी जैसा अपराध चलता है। वहां जनता के लिए अत्राणता की स्थिति बन सकती है तथा दण्ड न हो तो अपराध को रोकना और मुश्किल हो सकता है। उपदेश देने से सारे बदल जाएंगे, इसमें मेरा विश्वास कम है। उपदेश अच्छा है, कुछ प्रतिशत काम हो सकता है, पर सौ प्रतिशत लोग उपदेश को मान लेंगे, यह संभव नहीं है। उपदेश के साथ व्यवस्था तंत्र भी ठीक होना चाहिए।

एक न्यायाधीश के पास अपराधी आया।

न्यायाधीश ने कहा—तुम तो वही हो ना, जब मैं सामान्य वकील था, तब तुमने मुर्गी की चोरी की थी ?

अपराधी—हां, साहिब ! मैं वही हूं।

न्यायाधीश—जब मैं हाईकोर्ट में वकील था, तब तुमने बकरी की चोरी की थी ?

अपराधी—हां, मैं वही हूं।

न्यायाधीश—अब मैं जज बन गया तो मेरे पास तुम्हारे खिलाफ यह आरोप आया है कि तुमने भैंस की चोरी की है।

अपराधी—यह तो भगवान की कृपा है कि आपने भी तरक्की की है और मैंने भी तरक्की की है।

आदमी को अपराध में तरक्की नहीं करनी चाहिए। अपराध तो कम होना चाहिए, रुकना चाहिए। अदत्तादान जैसा पाप आत्मा को मलिन बनाने वाला होता है। इसलिए आदमी उससे बचने का प्रयास करे।

४. मैथुन पाप

आर्हत वाङ्मय के दसवेआलियं सूत्र में कहा गया है–

अबंभचरियं घोरं पमायं दुरहिट्ठियं।
नायरंति मुणी लोए, भेयायणवज्जिणो।।६/१५।।

अब्रह्मचर्य लोक में घोर प्रमादजनक और दुर्बल व्यक्तियों द्वारा आसेवित है। चरित्र भंग के स्थान से बचने वाले मुनि उसका आसेवन नहीं करते। ठाणं सूत्र में ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियां बताई गई हैं–

१. विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवति। णो इत्थिसंसत्ताइं णो पसुसंसत्ताइं णो पंडगसंसत्ताइं।

२. णो इत्थीणं कहं कहेत्ता भवति।

३. णो इत्थिठाणाइं सेवित्ता भवति।

४. णो इत्थीणमिंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता णिज्झाइत्ता भवति।

५. णो पणीतरसभोई (भवति?)

६. णो पाणभोयणस्स अतिमातमाहारए सया भवति।

७. णो पुव्वरतं पुव्वकीलियं सरेत्ता भवति।

८. णो सद्दाणुवाति णो रूवाणुवाति णो सिलोगाणुवाति (भवति?)

९. णो सातसोक्खपडिबद्धे यावि भवति। (९/३)

१. ब्रह्मचारी विविक्त शयन और आसन का सेवन करता है। स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का सेवन नहीं करता।

२. वह केवल स्त्रियों में कथा नहीं करता अथवा स्त्री की कथा नहीं करता।

३. वह स्त्रियों के स्थानों का सेवन नहीं करता।

४. वह स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को नहीं देखता और न उनका अवधानपूर्वक चिन्तन करता है।

५. वह प्रणीतरस का भोजन नहीं करता।

६. वह सदा पान भोजन का अतिमात्रा में आहार नहीं करता।

७. वह पूर्व अवस्था में आचीर्ण भोग तथा क्रीड़ाओं का स्मरण नहीं करता।

८. वह शब्द, रूप और श्लोक (कीर्ति) का अनुपाती नहीं होता—उनमें आसक्त नहीं होता।

९. वह सात और सुख में प्रतिबद्ध नहीं होता।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'अभिधाान चिंतामणि' में त्रिवर्ग के बारे में बताया है—**त्रिवर्गो धर्मकामार्थाः।** त्रिवर्ग में तीन चीजें हैं—धर्म, काम और अर्थ। सामान्य इन्सान के जीवन में अर्थ भी आवश्यक होता है और काम भी चलता है। गार्हस्थ्य में अर्थ नहीं है तो बड़ी कठिनाई हो जाती है। पैसे के बिना आदमी क्या कर सकता है। भोजन पैसे से मिलता है, कपड़ा पैसे से मिलता है, वाहन पैसे से मिलता है। आजकल तो पानी भी पैसे से मिलता है। जीवन की अनेक चीजें पैसे पर आधारित हैं। गार्हस्थ्य में पैसा न हो तो शर्म की बात हो जाती है। परम पूज्य गुरुदेव तुलसी ने 'श्रावक-संबोध' नामक काव्य में लिखा है—

गरीबी गौरव गमाना, अमीरी अभिशाप है।
मांग खाना, मान खोना, मानसिक संताप है।।

साधु हाथ फैलाए, यह तो गौरव की बात है। पर गृहस्थ हाथ फैलाए, यह स्वाभिमान और गौरव के अनुकूल बात नहीं होती। गृहस्थ जीवन में काम भी चलता है। इसकी संपूर्ति के लिए विवाह का प्रावधान है। भारतीय संस्कृति में विवाह को 'पाणिग्रहण' कहा गया है। पाणिग्रहण यानी एक-दूसरे का हाथ थामना। विवाह के पीछे तीन उद्देश्य होते हैं—

● पहला उद्देश्य—एक ऐसे जीवन साथी को प्राप्त करना, जो सुख-दुःख में साथ रह सके।

● दूसरा उद्देश्य—वंश परम्परा को आगे चलाना।

● तीसरा उद्देश्य—संयमित रूप में कामेच्छा की संपूर्ति करना।

भगवान् ऋषभ के समय अथवा उनसे पहले यौगलिक काल में भाई-बहन होते और वे ही आगे जाकर पति-पत्नी के रूप में परिणत हो जाते। आज तो ऐसा संस्कार बना हुआ है कि कोई भाई अपनी बहन के प्रति ऐसा चिन्तन भी कर ले तो उसे गर्हणीय पाप माना जाता है। हर युग की, हर समय की अपनी सामाजिक या मानवीय व्यवस्थाएं होती हैं। उस समय यह व्यवस्था थी कि किसी दूसरे के साथ संबंध नहीं करना, अपने भाई और बहिन के साथ ही संबंध करना। वर्तमान में कुलीन लोग संबंध करने से पहले सामान्यतया समान जाति, कुल आदि देखते हैं। यद्यपि कुछ युवक अथवा कन्याएं आज भी अपनी इच्छा से शादी करते होंगे तो कुछ प्राचीनकाल में भी अपनी इच्छा से शादी करते थे।

इलावर्द्धन नामक नगर में धनदत्त सेठ रहता था। उसके एक पुत्र हुआ। जिसका नाम रखा इलाकुमार। एक दिन नगर में एक नट मंडली आई। सेठ धनदत्त के मकान के पास ही उसने अपना खेल दिखाना शुरू किया। इलाकुमार अपने झरोखे से ही खेल देख रहा था। अचानक उसकी दृष्टि नटकन्या पर पड़ी। उसी समय इलाकुमार ने यह संकल्प कर लिया कि मैं शादी इसी नट-कन्या के साथ करूंगा। पिता ने बहुत समझाया, किन्तु वह नहीं माना। नट ने भी कहा—मैं अपनी पुत्री की शादी उसी के साथ करूंगा जो नट-विद्या में अत्यन्त निपुण हो और उसी के सहारे धन अर्जित करे। इलाकुमार शीघ्र ही नट विद्या में निष्णात बन गया और उस नट-कन्या के साथ शादी कर ली।

एक बार राज दरबार में नट मण्डली प्रदर्शन दिखा रही थी। जमीन में एक बहुत लम्बा बांस गड़ा था। उसके ऊपर सुई जैसी तीक्ष्ण कील गड़ी थी। उस पर सुपारी रखी थी। इलाकुमार सुपारी पर अपनी नाभि टिकाकर उस लम्बे बांस पर चक्कर काटता हुआ तलवार हाथ में लिए अनेक चमत्कार जनक खेल

दिखा रहा था। जैसे ही राजा की दृष्टि नट-कन्या पर पड़ी, वह उस पर मुग्ध हो गया। राजा ने सोचा—इसका पति यह नट बांस से गिरकर मर जाए तो अच्छा हो। किन्तु इलाकुमार बड़ी कुशलता के साथ अपना प्रदर्शन कर नीचे उतर आया। उसने राजा से पुरस्कार मांगा तो राजा ने दूसरी बार प्रदर्शन दिखाने के लिए कहा। सोचा, थककर गिर पड़ेगा। इसी प्रकार तीसरी और चौथी बार जब वह अपना खेल दिखा रहा था, तब अचानक उसकी दृष्टि एक मकान पर पड़ी। उसने देखा, एक मुनि घर में प्रविष्ट हुए। वहां घर की मालकिन अकेली थी। वह अनुपम लावण्यवती थी। नट-कन्या का सौन्दर्य तो उसके सामने कुछ नहीं था, किन्तु मुनि ने उस पर दृष्टि तक नहीं डाली। एकान्त स्थान में अकेली सुन्दर युवती के सामने रहते ब्रह्मचर्य तथा संयम का ऐसा दृश्य देखकर इलाकुमार स्तब्ध रह गया। उसने वासना के पीछे पागल बने अपने आपको निहारा और सोचा—धिक्कार है मुझे। मैं काम-वासना के कारण कितना पतित होता जा रहा हूं। इलाकुमार विरक्त हो गया। विशुद्ध भावधारा के कारण बांस पर ही उसे कैवल्य प्राप्त हो गया। जहां विरक्ति होती है, वहां मुक्ति होती है। किन्तु जब आदमी में किसी के प्रति आसक्ति होती है तब उसके लिए संयम की साधना अपेक्षित होती है।

साधु पूर्ण संयम की साधना में लीन होते हैं, किन्तु गृहस्थ के लिए पूर्ण संयम करना कठिन होता है। गार्हस्थ्य में काम भी चलता है और उसमें अर्थ की भी अपेक्षा होती है। इन दोनों पर धर्म का अंकुश रहता है तो गृहस्थ जीवन में भी कुछ अंशों में संयम रह सकता है। काम और अर्थ गार्हस्थ्यरूपी रथ के दो पहिए हैं। धर्म को इस रथ का सारथि कहा जा सकता है। इस सारथि के द्वारा गार्हस्थ्य का रथ सुचारु रूप में संचालित हो सकता है, अन्यथा यह रथ उत्पथगामी भी बन सकता है। जैन वाङ्मय में गृहस्थ के लिए, श्रावक के लिए स्वदार-स्वपति संतोष व्रत की बात बताई गई है। यदि यह व्रत भी जीवन में आ जाता है तो मानना चाहिए काम पर धर्म का अंकुश है, जीवन में कुछ अंशों में संयम की साधना है।

दुनिया में दो चक्र हैं—कांता और कांचन यानी स्त्री और पैसा। इनमें तीनों लोक भ्रांत हो रहे हैं, चक्कर काट रहे हैं। इनसे जो विरक्त हो जाता है,

वह साधु कहलाता है अथवा यह कहें कि वह परमात्मा का दूसरा रूप होता है। एक साधु के लिए अपेक्षित है कि वह पूर्णतया शील की साधना करे। परन्तु जो गृहस्थ हैं, पूर्ण शील की साधना जिनके लिए संभव न हो, उनके लिए एक व्रत दिया गया—स्वदार संतोष/स्वपति संतोष व्रत। गृहस्थ को स्वदार में संतोष करना चाहिए। इसके लिए संयम का संकल्प आवश्यक है। अगर संयम का संकल्प नहीं होता है तो बड़ा कठिन है स्वदार संतोष व्रत धारण करना। कुछ ऐसे निमित्त मिल जाएं, जैसे—युवावस्था हो, रुचिकर भोजन और पेय सुलभ हो, खूब मान-प्रतिष्ठा हो और संबंधों/संपर्कों में खुलावट हो, यानी परस्पर मिलने-जुलने में कोई रोक-टोक न हो तो स्त्री या पुरुष के लिए कभी भी, कहीं भी विचलन, फिसलन हो सकती है।

जवानी में संयम न हो तो आदमी गलत कार्यों में भी जा सकता है। धन-सम्पत्ति हो, सत्ता हाथ में हो और विवेक न हो तो आदमी कुछ भी कर सकता है। दूसरों की समस्या का समाधान करने वाला आदमी दूसरों को तकलीफ देने वाला बन सकता है यानी सत्ता भी अनर्थकारी बन सकती है। मेरा तो मानना है कि विवेक और संयम है तो यौवन भी अच्छा है, विवेक है तो पैसे से उपयोगी काम किए जा सकते हैं। लेकिन विवेक नहीं है तो फिर यौवन भी अनर्थकारी, धन भी अनर्थकारी और सत्ता भी अनर्थकारी बन सकती है। इसलिए आदमी में विवेक रहना चाहिए और साथ में संयम भी रहना चाहिए।

संयम न हो तो इन्द्रिय-निरोध की साधना में कठिनाई पैदा हो जाती है। कई बार समाचार पत्रों में आता है कि कुछ लड़कों ने किसी कन्या का अपहरण कर उसके साथ दुराचार किया, फिर उसे जान से मार दिया। संयम नहीं होता है, तब ऐसी स्थिति बनती है। भारतीय संस्कृति में स्वदार संतोष और स्वपति संतोष का एक सुन्दर मार्गदर्शन दिया गया है। यह धर्म की दृष्टि से तो अच्छा है ही, सुंदर सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से भी अच्छा है। विवाह करके आदमी जीवन भर के लिए एक-दूसरे का साथ निभाने के लिए संकल्पित होता है। जिसको जीवनसाथी और सहचर मान लिया, फिर जिन्दगी भर उसका साथ निभाना कर्तव्य हो जाता है। छोटी-मोटी बातों को लेकर असहिष्णु बनने से तो

कठिनाई की स्थिति पैदा हो सकती है। दाम्पत्य जीवन में सहिष्णुता की आवश्यकता होती है। उसके बिना संबंधों में दुराव और तनाव पैदा होता है। कई बार मेरे पास लोग आते हैं और कहते हैं कि हमारी शादी हुए पचीस वर्ष अथवा पचास वर्ष हो गए हैं। मैं उनसे पूछता हूं कि इस लंबी अवधि में आपका जीवन शांति में बीता या अशांति में ? उनका सकारात्मक उत्तर सुनकर उनकी सराहना करने को मन करता है। लम्बे समय तक दो व्यक्ति यदि शांति के साथ रहे हैं तो मेरा मानना है कि यह भी एक प्रकार की साधना है। एक-दूसरे के प्रति विश्वास हो, एक-दूसरे को सहन करने की क्षमता हो और एक-दूसरे की अपेक्षाओं पर ध्यान दिया जाए तो शांति से जीवन जिया जा सकता है।

जैन वाङ्मय में एक सुन्दर पथदर्शन दिया गया कि गार्हस्थ्य में स्वदार/स्वपति संतोष व्रत हो तो वह अध्यात्म की साधना है और समाज व्यवस्था की दृष्टि से भी यह एक अच्छा उपक्रम है।

५. परिग्रह पाप

आर्हत वाङ्मय में कहा गया है—**इच्छा उ आगाससमा अणंतिया** अर्थात् इच्छा आकाश के समान अनंत होती है। हमारी दुनिया में सबसे बड़ा कोई पदार्थ है तो वह आकाश है। आकाश से बड़ा कुछ नहीं होता। जो कुछ भी है, वह आकाश में है। जैसे आकाश का कोई ओर-छोर नहीं होता, वैसे ही इच्छाओं का भी अन्त नहीं होता है। वे आगे से आगे बढ़ती जाती हैं, अपार, अनंत, असीम हो जाती हैं। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

असंतोषपरा मूढ़ाः संतोषं यान्ति पंडिताः।
असंतोषस्य नास्त्यन्तः संतोषः परमं सुखम्।।

जो मोहग्रस्त या मूढ़ लोग होते हैं, वे असंतोष में परायण होते हैं, जबकि पंडित लोग, अध्यात्म-विद्या से संपन्न लोग संतोष को धारण करते हैं। असंतोष का अन्त नहीं होता, इसलिए संतोष ही परम सुख होता है।

श्रावक के बारह व्रतों में पांचवां व्रत है—अपरिग्रह अणुव्रत। जो इच्छा अनंत है, असीम है, उसका परिसीमन कर लेना यानी अपरिग्रह की दिशा में आगे बढ़ना।

अठारह पापों में पांचवां पाप है—परिग्रह। **मुच्छा परिग्गहो वुत्तो** अर्थात् मूर्च्छा परिग्रह है। पदार्थों का उपभोग करना एक बात है और उनके प्रति मूर्च्छा या आसक्ति का होना अलग बात है। वास्तव में पदार्थों के प्रति जो आसक्ति होती है, वही परिग्रह है। मनुष्य पदार्थों के उपभोग की सीमा करे और उससे भी बड़ी बात यह है कि इच्छा का सीमांकन करे, आसक्ति को निर्मूल करने का प्रयास करे। आसक्ति ही परिग्रह का रूप धारण कर लेती है।

इच्छा के संदर्भ में तीन शब्दों का प्रयोग होता है—महेच्छ, अल्पेच्छ,

अनिच्छ। महेच्छ वह होता है, जिसमें खूब इच्छाएं होती हैं, ज्यादा आसक्ति होती है। अल्पेच्छ वह होता है, जिसमें इच्छाएं कम होती हैं। जो पूर्ण रूप से इच्छारहित हो, वह अनिच्छ होता है। एक गृहस्थ के लिए अनिच्छ होना बहुत कठिन है, किन्तु वह महेच्छ न बने। कुछ अंशों में आचार्य भिक्षु को अनिच्छ कहा जा सकता है। जब वे स्थानकवासी परम्परा के गुरु रघुनाथजी के पास थे, उनके बारे में ऐसा बताया जाता है कि तब वे अपने गुरु के बड़े कृपापात्र, विश्वासपात्र और वात्सल्यपात्र थे। उस परम्परा में भावी आचार्य के रूप में वे देखे जाते थे। लोगों के मन में कल्पना थी कि आचार्य रघुनाथजी का उत्तराधिकार मुनि भीखणजी को ही मिलेगा। संत भीखणजी जैसे बुद्धिमान व्यक्ति इस बात से अनभिज्ञ थे, ऐसा भी मुझे नहीं लगता। इसके बावजूद उन्होंने संघ से अभिनिष्क्रमण कर दिया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनमें इच्छाओं का कितना अल्पीकरण या परिसीमन था कि उन्होंने आचार्य पद की अभिलाषा नहीं की, आगे आने वाली कठिनाइयों की परवाह भी नहीं की और अभिनिष्क्रमण कर दिया। ऐसा अनिच्छ व्यक्ति कोई-कोई ही हो सकता है।

साधु को अनिच्छ बनना चाहिए। गृहस्थ अनिच्छ न बन सके तो अल्पेच्छ बनने का प्रयास करना चाहिए। गृहस्थ अपनी इच्छाओं का अल्पीकरण करे। यद्यपि एक सामान्य आदमी में अधिक इच्छाएं भी देखने को मिलती हैं। अवस्था से वृद्ध होने के बावजूद भी कई बार इच्छाएं विराम नहीं लेतीं। संस्कृत में कहा गया है–

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता, कालो न यातः वयमेव याताः।
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः, तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

लोग वृद्धावस्था में सोचते हैं, हमने भोगों को नहीं भोगा, अपितु भोगों ने हमें ही भोग लिया। काल क्या बीता, हम स्वयं ही बीत गए। हमसे तप नहीं तपा गया, हम ही तप गए। हम बूढ़े हो गए, किन्तु तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई।

परमपूज्य गुरुदेव महाप्रज्ञजी फरमाते कि आदमी पहले शराब पीता है, फिर शराब आदमी को पीने लग जाती है। आत्मकल्याण की दृष्टि से इच्छा परिमाण का बड़ा महत्व है। जीवन की जितनी अपेक्षा है, उसकी संपूर्ति तो

करनी होती है, किन्तु इच्छाओं का विस्तार न हो, इस पर श्रावक को ध्यान देना चाहिए, विचार करना चाहिए।

परम पूज्य गुरुदेव तुलसी ने विसर्जन का सूत्र दिया था। वह भी एक आसक्ति परिसीमन या आसक्ति अल्पीकरण का प्रयोग माना जा सकता है। हालांकि आजकल लोग दान में भी विसर्जन शब्द को काम में ले लेते हैं। वस्तुतः विसर्जन होता है या नहीं, यह विचारणीय बात है। अगर वास्तव में इच्छाओं का अल्पीकरण हो तो विसर्जन एक साधना है और आसक्ति को कम करने का एक सशक्त प्रयोग है। इच्छा बढ़ती है तो उसे घटाया भी जा सकता है। वह बढ़ती कैसे है, इस संदर्भ में एक कथा है–

एक बालक किसी संन्यासी के पास गया। संन्यासी ने वात्सल्य भाव से उसका परिचय पूछा। दस-बारह वर्ष के उस लड़के ने कहा–बाबा, यहीं निकट के गांव का हूं और लावारिस हूं। रहने के लिए घर नहीं, खाने को रोटी नहीं। भीख मांग कर खा लेता हूं और सड़क के किनारे सो जाता हूं। मुझसे ज्यादा दुःखी कोई नहीं होगा।

संन्यासी ने कहा–बोलो, तुम्हें क्या चाहिए ?

लड़के ने कहा–दो दिन से भूखा हूं। रोटी के लिए कुछ पैसे मिल जाएं तो बड़ी कृपा होगी।

संन्यासी ने कहा–अपना हाथ इधर करो। लड़के ने अपना दायां हाथ बाबा की ओर बढ़ाया तो बाबा ने उसकी हथेली पर १ का अंक लिखा और कहा–आज से तुम्हें १ रुपया प्रतिदिन अपने आप मिल जाया करेगा।

उसी दिन से उस लड़के को रोज एक रुपया अयाचित रूप से मिल जाता। उससे वह चाय, बिस्कुट आदि खरीद कर खा लेता। इस तरह एक सप्ताह बीत गया। लड़के की एक मुख्य समस्या भूख की कुछ अंशों में हल हो गई थी। वह बाबाजी से मिलने के लिए बेचैन था। संयोग से एक दिन फिर बाबा के दर्शन हुए। उन्होंने पूछा–एक रुपया तुम्हें प्रतिदिन मिल जाता होगा। अब तो कोई कठिनाई नहीं है ?

लड़का बोला–एक रुपया मुझे रोज मिल जाता है, लेकिन भर पेट भोजन

के लिए वह पर्याप्त नहीं। थोड़ी और कृपा कर दें। इतना कह कर लड़के ने अपना हाथ बाबा की ओर बढ़ा दिया।

बाबा ने उसकी हथेली पर जहां एक लिखा था, उसके आगे एक शून्य लिख दिया। अब संख्या १ से बढ़कर १० हो गई। बाबा ने कहा—अब तुम्हें १० रुपये प्रतिदिन मिला करेंगे। बाबा की जादुई संख्या के अनुरूप लड़के को अब दस रुपये रोज मिल जाते। उनसे वह नाश्ता और भोजन कर लेता। रोटी की समस्या समाहित हो गई थी। लड़का फिर बाबा से मिलने के लिए उत्कंठित हो गया। एक सप्ताह बाद बाबा उसे फिर मिले और पूछा—अब तो कोई परेशानी नहीं है? लड़के ने बाबा के चरण पकड़ लिए और कहा—बाबा! आपने रोटी की समस्या का समाधान तो कर दिया, लेकिन शरीर की सुरक्षा के लिए वस्त्र भी तो चाहिए। ये जीर्ण और फटे-पुराने कपड़े किसी दिन मेरे शरीर से अपने आप उतर जाएंगे। भोजन दिया तो वस्त्र की भी कृपा कर दें।

बाबा ने उसकी हथेली पर पहले से अंकित १० में एक शून्य की और वृद्धि कर दी। कहा—अब तुम्हें १०० रुपये रोज मिलेंगे। आशा है इतने से तुम्हारा काम चल जाएगा। लंबे समय से अभाव झेल रहे उस लड़के ने सात दिन में तरह-तरह के मनपसंद कपड़े खरीद लिए। उसकी कल्पनाओं में पंख लग गए। अब वह आगे के सपने देखने लगा। उसे पता था कि बाबा फिर बड़ी जल्दी मिलेंगे और आशा के अनुरूप एक दिन बाबा मिले तो उसने कहा—आपने मुझे भोजन, वस्त्र आदि तो दे दिए, लेकिन मैं अभी भी फुटपाथ पर हूं। आप कृपा कर मेरे लिए घर का भी प्रबंध कर दें।

बाबा ने उसकी हथेली पर अंकित १०० में एक शून्य और बढ़ा दिया। अब उसे प्रतिदिन हजार रुपये मिलने लगे। जल्दी ही उसने एक मकान खरीद लिया। लेकिन उसकी कामनाओं पर अब भी विराम नहीं लगा। कुछ दिन बाद बाबा फिर मिले तो उसने कहा—मैं व्यापार करना चाहता हूं, लेकिन उसके लिए मोटी पूंजी की आवश्यकता है। आपकी कृपा से जो राशि मिल रही है, उसमें थोड़ी और वृद्धि कर दें। बाबा ने उसमें एक शून्य और बढ़ा दिया। अब उसे दस हजार प्रतिदिन मिलने लगे। लेकिन धन से कोई कब संतुष्ट

हुआ है ? कभी घर-परिवार बसाने के नाम पर तो कभी किसी और बहाने उस लड़के ने बाबा से शून्य की वृद्धि कराते हुए संख्या दस लाख तक कर ली। एक दिन बाबा के दर्शन होने पर जब उनकी ओर से प्रश्न हुआ कि अब तो कोई कठिनाई नहीं है ना? तो उस लड़के ने कहा—महाराज! कठिनाई नहीं, कठिनाइयों का दौर शुरू हो गया है। मैंने सेठ बनकर अपने व्यापार का विस्तार कर लिया, कोठी और बंगले खड़े कर लिए। कभी नंगे पांव सड़कों पर मारा-मारा फिरता था, आज मेरे पास चार-पांच एयरकंडीशन गाड़ियां हैं। लेकिन मन की अशांति बढ़ती जा रही है। भूख-प्यास गायब है और नींद बहुत कम आती है। लगता है जल्दी ही किसी बड़ी बीमारी का शिकार बन जाऊंगा।

बाबा ने कहा—जब तुम्हारे पास कुछ नहीं था तो तुम इतने दुःखी नहीं थे। जैसे-जैसे तुम्हें साधन सुलभ होते गए, तुम्हारी इच्छाओं ने विस्तार लेना शुरू कर दिया। तुम्हारी उद्दाम लालसा और इच्छा ने तुम्हें इस मुकाम तक पहुंचाया कि अब शांति तुम्हारे जीवन से गायब है। लाओ अपनी हथेली, तुम्हें फिर से शान्त और संतुष्ट बना दूं। इतना कह कर बाबा ने उसका हाथ अपने हाथ में लिया। उसने सोचा, बाबा शायद एक शून्य की और वृद्धि करेंगे, लेकिन बाबा ने उसकी हथेली पर अंकित संख्या में से अंक १ को मिटा दिया। अब हथेली पर थे कई शून्य, जिनका कोई अर्थ नहीं रह गया था। लड़का बोला—बाबाजी! आपने यह क्या किया? बाबा ने कहा—वत्स! मैं तुम्हारी मांग पूरी करता गया, फिर भी तुम संतुष्ट नहीं हुए और दुःखी बने रहे। मैं तुम्हें सुखी बनाना चाहता हूं। उसके लिए जरूरी है अपनी आकांक्षाएं सीमित करो। याद रखो, सुख और संतुष्टि पदार्थ के अति संग्रह और उसके अति भोग में नहीं, उसके सीमाकरण में है।

कहा गया है—जितने से आदमी का पेट भर जाए यानी जीवन की अपेक्षाओं की संपूर्ति हो जाए, उतना ही आदमी का अपना है। उससे ज्यादा जो अपने पास रखता है, वह चोर है और ताड़ित होने का अधिकारी है। इच्छा परिमाण की यह आदर्श स्थिति है कि अपेक्षा से अधिक संग्रह मत करो। परिग्रह एक ऐसा पाप है, नदी का ऐसा वेग है, जिसमें आदमी बह जाता है।

आयारो में कहा गया—**अमरायइ महासड्ढी** अर्थात् बहुत आसक्ति वाला आदमी सोचता है कि मैं अमर हूं, मुझे मरना नहीं है। मेरी भी एक दिन मृत्यु होगी, पदार्थासक्त आदमी इस बात को भुला देता है और अमर की तरह आचरण करता है। कोई स्वयं को अमर न माने। अमर तो केवल आत्मा है। शरीर नश्वर और आत्मा अविनश्वर है। इसलिए व्यक्ति पदार्थ में आसक्त न बने और इस नश्वर शरीर से अमर आत्मा के कल्याण का प्रयत्न करे। इसके लिए वह अपनी इच्छाओं का परिसीमन करे और जितना संभव हो सके, परिग्रह के पाप से बचता हुआ अपनी आत्मा को निर्मलता की दिशा में अग्रसर करे।

६. क्रोध पाप

आर्हत वाङ्मय में कहा गया है—**उवसमेण हणे कोहं** अर्थात् उपशम के द्वारा क्रोध को जीतो। आदमी में अनेक वृत्तियां होती हैं। अच्छी वृत्तियां भी होती हैं और बुरी वृत्तियां भी होती हैं। उसके भीतर अहिंसा का संस्कार भी होता है और हिंसा का संस्कार भी होता है। सत्संस्कार भी होता है और असत् संस्कार भी होता है। अनादिकाल से राग-द्वेष के संस्कार हैं, इसलिए आदमी कई बार गुस्से में भी आ जाता है, कभी अहंकार में भी आ जाता है, कभी माया में तो कभी लोभ में आ जाता है और पाप का बंध कर लेता है।

अठारह पापों में छठा पाप है—क्रोध। आदमी अपने भीतर झांके और देखे तो उसे ज्ञात होगा कि मुझे कितना गुस्सा आता है। पारिवारिक जीवन में गुस्सा आ जाता है और सामाजिक जीवन में भी गुस्सा आ जाता है। गुस्सा करने वाला व्यक्ति दूसरों को भी कष्ट में डाल देता है और स्वयं भी उससे संत्रस्त हो जाता है। कई बार गुस्सा करने वाला स्वयं बड़ा दुःखी होता है कि मैंने गुस्सा क्यों किया ? उसे पश्चात्ताप भी होता है। गलत कार्य के लिए पश्चात्ताप या अनुताप होना अच्छी बात है। कम से कम उसे अपने द्वारा किए गए गलत कार्य की अनुभूति तो हो जाती है।

क्रोध करना, गालियां देना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है सहन करना। वाणी का विवेक और संयम रखना अच्छी बात है। विवेक और संयम नहीं है तो अनियंत्रण की स्थिति में आदमी कभी भी कुछ भी कह देता है और कुछ भी कर लेता है। तेज गुस्से की स्थिति में आदमी विस्फोटक स्थिति में पहुंच जाता है। मैं कहा करता हूं कि संत वह होता है, जो शान्त होता है। जो शान्त नहीं रहता, आवेश की स्थिति में रहता है, दुष्प्रवृत्तियों में रहता है, वह या तो संत नहीं है या उसकी संतता की साधना में अभी कमी है। संतता की

तो बात ही छोड़ें, गुस्से की स्थिति में आदमी भी भला आदमी कहां रह जाता है ? जैसे शराब का नशा होता है, वैसे ही गुस्सा भी एक प्रकार का नशा है। गुस्से का नशा भी आदमी को छोड़ना चाहिए। शराब पीकर आदमी उन्मत्त हो जाता है तो गुस्से में आदमी उपद्रवी बन जाता है। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी ने अपने गीत में कहा–

छोड़ो क्यूं कोनी क्रोध रो नशो।
थांरी आंख्यां में लोही रो उफाण,
छोड़ो क्यूं कोनी क्रोध रो नशो।।
थांरी अक-बक बकणै री पड़गी बाण,
दूजा नै कालै नाग ज्यूं डसो।
क्रोध बड़ो दुर्गुण दुनिया में,
घट-घट में बसनारो,
जिण घट में नहीं क्रोध निवासी,
बो नर जगत सितारो।।

परमपूज्य गुरुदेव महाप्रज्ञजी प्रेक्षाध्यान का प्रयोग कराते थे। प्रेक्षाध्यान में गुस्से पर नियंत्रण रखने के लिए ज्योतिकेन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग निर्दिष्ट किया गया है। प्रयोग के द्वारा आदमी गुस्से पर नियंत्रण करने का प्रयास करे। गुस्सा शान्त है तो कितनी शान्ति रहती है। हम चिन्तन करें। चिन्तन से भी परिवर्तन ला सकते हैं। जो काम प्रेम से और शान्ति से हो सकता है, उसके लिए हमें गुस्सा क्यों करना चाहिए ? गुस्सा नहीं करना भी एक साधना है। अहंकार एक दुर्गुण है। यह हमारी वृत्तियों पर नकारात्मक असर डालता है और मान-प्रतिष्ठा में भी कमी ला देता है। झुकना सजीव आदमी का लक्षण है, जबकि अकड़न मुर्दे की खास पहचान है। हमारा झुकना सामने वाले को भी झुका सकता है, जबकि कड़ाई या कठोरता सामने वाले को भी कठोर बना सकती है। कहा गया है–

तुम आओ डग एक तो हम आएं डग अट्ठ।
तुम हमसे करड़े रहो तो हम हैं करड़े लट्ठ।।

परमपूज्य कालूगणी फरमाते थे कि दो आदमी रस्सी के दोनों सिरे को

पकड़ कर अपनी ओर खींच रहे हैं। रस्सी बीच में टूट गई तो दोनों गिर सकते हैं। दोनों में से एक छोर वाले ने रस्सी को ढीला छोड़ दिया तो वह तो ज्यों का त्यों खड़ा रहेगा, किन्तु दूसरी ओर रस्सी को पूरी ताकत से खींच रहा आदमी गिर सकता है, उसे चोट लग सकती है। अगर दोनों ही व्यक्ति रस्सी को ढीला छोड़ दें तो दोनों ही सुरक्षित खड़े रहेंगे, उनका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। अनावश्यक किसी बात को खींचना नहीं चाहिए। जहां तक हो सके, अहिंसक तरीके से काम करने का प्रयास होना चाहिए।

अगर गुस्सा आए तो और कुछ नहीं, इतना-सा मानसिक संकल्प कर लें कि अभी मैं कुछ देर तक नहीं बोलूंगा। संभव है कुछ समय निकल जाने के बाद गुस्से को प्रकट होने का, कार्य रूप में परिणत होने का, व्यवहार में आने का अवसर ही न मिले। कई बार विवाद की स्थिति में आदमी बोलता तो नहीं है, किन्तु बिना बोले भी बहुत कुछ कर लेता है। कुछ लोग गुस्से में आकर बहुत ज्यादा बोल जाते हैं और कुछ लोग लंबे समय तक बोलचाल बंद कर देते हैं। जैसे बहुत ज्यादा बोलना गलत है, वैसे ही बिल्कुल न बोलना भी गलत है। आवेश के कारण किसी बात को पकड़ कर बैठ जाना, बोलना बंद कर देना अच्छी बात नहीं है।

एक गांव में एक जाट और उसकी पत्नी रहते थे। जाट और जाटणी में कभी-कभी विवाद की स्थिति आ जाती। एक बार किसी बात को लेकर दोनों में इतना मतभेद बढ़ा कि दोनों ने एक दूसरे से बोलना बंद कर दिया। परिवार के दो ही जिम्मेदार सदस्य और दोनों में बोलचाल बंद। यहां समझा जा सकता है कि दोनों को कितनी परेशानी उठानी पड़ी होगी। खेत में लावणी का समय आया। जाटणी ने देखा, गांव के सभी किसान अपने हल-बैल लेकर खेतों की ओर जा रहे हैं और उसका पति बेपरवाह बना घर में बैठा है। जाटणी के लिए यह स्थिति असह्य हो गई। चाहते थे दोनों बोलना, लेकिन अहं आड़े आ रहा था। आखिर जाटणी से रहा नहीं गया। सीधा तो वह पति से बोल नहीं सकती थी। इसलिए दीवार की ओर मुंह करके बोली—'लोग चाल्या लावणी, लोग क्यूं नी जाय' अर्थात् सभी लोग तो लावणी के लिए जा रहे हैं, तुम क्यों नहीं जाते? पत्नी की ओर से सवाल हुआ तो पति जवाब दिए बिना कैसे रहता?

उसने भी दीवार की ओर मुंह करके कहा—'लोग चाल्या खाय-पी, लोग किनै खाय ?' अर्थात् लोग तो खा-पीकर यानी पेट भरकर खेतों में जा रहे हैं, मैं भूखा कैसे जाऊं ? जाटणी लंबे समय से बोलचाल बंद होने से त्रस्त थी। बोलने के लिए उसे किसी बहाने की तलाश थी। आज अच्छा मौका मिला था। पति के मार्मिक उत्तर से उसका मन पिघल गया, लेकिन अहं की दीवार अब भी टूटी नहीं थी। उसने पुनः पति की ओर देखे बिना कहा—'छींकै पड़ी राबड़ी उतार क्यूं नी ले' अर्थात् छींके पर रोटी,राबड़ी रखी है, उतार कर खा क्यों नहीं लेते। पत्नी की इस बात पर जाट को हंसी आ गई। वह पत्नी की ओर घूमा और बोला—'अबै आपां बोल्या-चाल्या घाल क्यूं नी दे' अर्थात् अब तो हम दोनों बोल चुके हैं, उतार कर परोस क्यों नहीं देती ?

गुस्से की अवस्था में दोनों ही स्थितियां आ सकती हैं। ज्यादा बोलना भी हो सकता है और लंबे समय तक बोलचाल बंद भी हो सकती है। ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं, क्योंकि इन दोनों में 'अति' है। अति किसी भी स्थिति में उपादेय नहीं होती। मध्यम स्थिति यह है कि गुस्से की हालत में तत्काल न बोलकर दिमाग के ठंडा होने की प्रतीक्षा की जाए और उसके बाद आवेश को नियंत्रित करके बोला जाए।

व्यक्ति यह ध्यान दे कि परिवार में शान्ति है या नहीं ? पारिवारिक सदस्यों में परस्पर का व्यवहार कैसा है ? सास-बहू, भाई-भाई, पिता-पुत्र का आपसी व्यवहार कैसा है ? व्यवहार में शालीनता, निरहंकारिता, विनम्रता, मृदुता आदि है तो घर-परिवार में शान्ति रहेगी, सदस्यों में चित्तसमाधि रहेगी, अन्यथा तनाव की स्थिति बन सकती है।

परिवार में पिता और पुत्र के बीच गहरा स्नेह और सम्मान का भाव था। दोनों एक ही थाली में खाना खाते। एक दिन पिता ने पुत्र को किसी बात पर कड़ाई से डांट दिया। पिता का यह व्यवहार पुत्र को मर्माहत कर गया। उसके मन में अन्यथा भाव आया और उसने मन में सोच लिया कि अब मैं पिता के साथ कभी भोजन नहीं करूंगा। शाम को भोजन का समय हुआ। पिता भोजन के लिए तैयार होकर बेटे की प्रतीक्षा कर रहा था। तभी उसे बताया गया कि

बेटा आपसे नाराज है और वह आपके साथ भोजन नहीं करना चाहता। पिता सहिष्णु और विवेकी था। वह अपने स्थान से उठा और अपने कमरे में अलग थाली लेकर बैठे पुत्र के पास गया। स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरा और कहा—कोई बात नहीं बेटे, हमेशा तुम मेरे साथ भोजन किया करते थे। आज से मैं तुम्हारे साथ भोजन करूंगा। पुत्र अपने पिता के इस वात्सल्यपूरित व्यवहार से आर्द्र हो गया। उसने रुंधे गले से कहा—पिताजी, आप मना करेंगे तो भी मैं आपके साथ ही खाऊंगा। बड़ों का अपना कर्तव्य होता है, छोटों का अपना कर्तव्य होता है। दुनिया में कर्तव्यनिष्ठा का अपना महत्व होता है।

आचार्य ऋषिरायजी हमारे धर्मसंघ के तीसरे आचार्य थे। वे अपने ढंग के विलक्षण आचार्य थे। इतिहास में आता है कि एक बार किसी साध्वी को उसकी गलती पर उन्होंने उपालंभ देते समय कोई ऐसा शब्द कह दिया, जो उसके मन को ठेस पहुंचा गया। वह आक्रोश से भर गई। उसने कई साध्वियों को अपने साथ कर लिया। फलतः चौदह साध्वियों ने संघ से पृथक होने का निर्णय कर लिया। आचार्य ऋषिराय को जब उस स्थिति का पता चला तो वे बहुत चिन्तित हुए। वे नहीं चाहते थे कि उनके किसी कथन के मूलभाव को समझे बिना या अन्यथा समझने के कारण संघ के किसी सदस्य के मन में विक्षोभ उत्पन्न हो। उन्होंने बिगड़ने के किनारे तक पहुंची उस स्थिति को संभालने के लिए अपने रुख को एकदम मोड़ दे दिया। मुनि स्वरूपचन्दजी को लेकर वे तत्काल साध्वियों के स्थान पर पधारे और उन सबसे बातचीत करके उनके रोष को शान्त कर दिया।

गुरुदेव तुलसी फरमाते कि मुझे कितना सहन करना पड़ता है। मैं संघ का आचार्य हूं, शास्ता हूं, पर मुझे जितना सहन करना पड़ता है, उतना दूसरों को नहीं करना पड़ता। बड़ों को अपना बड़प्पन बनाए रखने के लिए कई बार सुनना पड़ता है, कई बार बहुत सहना पड़ता है, बहुत गम खाना पड़ता है और कई बार झुकना पड़ता है। आदमी अपने आक्रोश की वृत्ति पर नियंत्रण करके क्षमा भाव को पुष्ट करने का, उसे बढ़ाने का प्रयास करे। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—**क्षमा वीरस्य भूषणम्** अर्थात् क्षमा शूरवीर आदमी का भूषण है। किसी को क्षमा करना कमजोरी नहीं, अपितु शक्तिशाली और सक्षम होने का

परिचायक है। राष्ट्रकवि दिनकर ने अपने काव्य 'कुरुक्षेत्र' में कहा है—

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दन्तहीन विषहीन विनीत सरल हो।।

दंतहीन और विषहीन सर्प शान्त रहे और किसी को दंशित न करे तो यह कोई बड़ी बात नहीं, लेकिन भयंकर विषदंतवाला, जहर से परिपूर्ण नागराज छेड़ने पर भी शान्त रहे, अपना क्रोध प्रदर्शित न करे तो यह बड़ी बात है। उसकी क्षमा प्रशस्य है। आदमी उपशम के द्वारा क्रोध को शान्त करने का प्रयास करे।

७. मान पाप

आर्हत वाङ्मय में कहा गया है—**माणं मद्दवया जिणे** अर्थात् मृदुता से मान को जीतो। आदमी के भीतर अहंकार की वृत्ति होती है। अहंकार की वृत्ति साधना के क्षेत्र में बाधक होती है। न केवल साधना के क्षेत्र में, अपितु व्यावहारिक जगत में भी अहंकार शोभायमान नहीं होता। आदमी दूसरों पर अधिकार जमाना चाहता है। किन्तु स्वयं किसी के अधीन रहना नहीं चाहता। इस वृत्ति को कैसे समाप्त किया जाए, यह एक प्रश्न है। शास्त्रकार ने उपाय बताया कि मार्दव के द्वारा मान को जीतना चाहिए। अहंकार विनय का नाश करनेवाला होता है तो विनय अहंकार का नाश करनेवाला होता है।

सामाजिक दृष्टि से देखें तो जहां अनेकों का सहवास होता है, वहां अहंकार विगलन आवश्यक होता है। यदि परिवार का हर सदस्य अपने आपको बड़ा मानने लगे और सबसे सम्मान पाने की इच्छा रखे, किन्तु सम्मान देने की इच्छा न रखे तो परिवार में शांतिपूर्ण सहवास नहीं हो सकता। अहंकार के मुख्य दो रूप हैं—मैं और मेरा। जहां मेरापन या अपनापन जुड़ जाता है, वहां दुःख होता है। शास्त्रों में अहंकार के आठ स्थान माने गए हैं—जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य। किसी को जाति का मद हो सकता है, किसी को अपने रूप का मद हो सकता है तो किसी को ऐश्वर्य आदि का। आदमी इस सचाई को जानता है कि यह धन-वैभव आज तक किसी का नहीं बना और न ही किसी के साथ गया, फिर भी इतना मेरापन का भाव जुड़ जाता है कि वह धन के मद में अन्धा बना हुआ किसी भी प्रकार का अवांछनीय काम कर सकता है। अहंकारी व्यक्ति किसी से परामर्श लेना पसन्द नहीं करता। एक बन्दर वृक्ष की डाल पर बैठा बरसात में भीग रहा था। दूसरी डाल पर बया

पक्षी अपने घौंसले में बैठा था। बन्दर को ठिठुरते हुए देखकर उसे परामर्श देते हुए कहा—

हाथ तेरे, पांव तेरे, मिनख सरीखी देह रे।
झौंपड़ी तू छाय बन्दर, ऊपर बरसै मेह रे।।

बन्दर भैया! तुम्हारे हाथ हैं, पांव हैं, मनुष्य के समान शरीर है। वर्षा हो रही है। अपनी सुरक्षा के लिए झौंपड़ी क्यों नहीं बना लेते? यह सुनते ही बन्दर का अहंकार जाग उठा, उसने सोचा—कहां मैं और कहां यह छोटा-सा बया पक्षी। यह मुझे शिक्षा दे रहा है। वह तत्काल उस डाल पर गया और बया के घोंसले को तोड़ते हुए बोला—मैं बनाने में नहीं, तोड़ने में समर्थ हूं।

अहंकार का भाव मन में आते ही उन सब चीजों का क्षरण शुरू हो जाता है, जिनके कारण व्यक्ति विशिष्ट बना होता है। लेकिन यह व्यक्ति के भीतर मौजूद विजातीय तत्वों का प्रभाव है कि आदमी अहंकार में चला जाता है। किसी को रूप का भी अहंकार हो सकता है। रूपवान होना एक बात है, किन्तु गुणवत्ता न हो तो कोरा रूप किस काम का ? इस संदर्भ में एक कथानक मिलता है।

राजा अपने आसन पर आसीन था। पास में उसका मंत्री भी उपस्थित था। बातचीत के प्रसंग में राजा ने कहा—मुझे सौन्दर्य अपनी ओर आकर्षित करता है। विद्रूपता और असौन्दर्य की ओर देखने का मेरा मन ही नहीं होता। कितना अच्छा होता, अगर सभी रूपवान होते। मंत्री अनुभवी, बुद्धिमान और गंभीर स्वभाव का था। उसने कहा—राजन ! सौन्दर्य तो सभी को प्रिय होता है, इसलिए उसका अपना महत्व है, किन्तु उससे ज्यादा गुणों का महत्व है। कोई कितना ही रूपवान हो, अगर उसमें गुण नहीं तो उसका रूप व्यर्थ है। राजा ने मंत्री की बात का प्रतिवाद किया और अपने कथन के पक्ष में कई तर्क दिए। मंत्री ने कहा—आपका कथन आपकी दृष्टि से यथार्थ हो सकता है, किन्तु मैंने जो कहा, उसकी सचाई भी किसी दिन आप देख लेंगे।

किसी अन्य दिन राजा को प्यास लगी। मंत्री के संकेत पर अनुचर स्वर्ण पात्र का पानी लेकर उपस्थित हुआ। राजा ने पानी की पहली घूंट ली और

अरुचि से मंत्री की ओर देखकर कहा—पानी ठंडा नहीं है। मंत्री ने सेवक से मिट्टी के घड़े का पानी मंगवाया। उस मृत्तिका पात्र का जल पीकर राजा ने तृप्ति की अनुभूति की और कहा—आश्चर्य है ! दो पात्रों के पानी में इतना अन्तर ? मंत्री ने कहा—राजन ! आपको तो सौन्दर्य प्रिय है। कलात्मक स्वर्ण पात्र के सामने मिट्टी के पात्र का क्या सौन्दर्य। फिर आपको स्वर्ण पात्र वाले जल की अपेक्षा मिट्टी के पात्र वाला जल क्यों अच्छा लगा ? बात राजा की समझ में आ गई कि बाह्य सौन्दर्य गौण होता है, आन्तरिक सौन्दर्य मुख्य होता है। उसके बिना बाह्य सुन्दरता का कोई बहुत महत्व नहीं। मूल बात है गुणवत्ता और उपयोगिता होनी चाहिए। अहंकार के बजाय आदमी अपनी योग्यता को बढ़ाने का प्रयास करे। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—**स्वयमायाति सम्पदः।** अगर पात्रता है तो कई बार संपदा स्वयं व्यक्ति के पास आ जाती है। अगर योग्यता नहीं है और संपदा आ गई तो उसके टिकने और उसके सही उपयोग में सन्देह रहता है।

नम्रता एक ऐसा गुण है जो व्यक्ति को जोड़ना जानता है। जो झुकना जानता है वह विकास को प्राप्त कर सकता है और जो अकड़कर रहता है वह टूट जाता है, उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। किसी ने ठीक ही लिखा है—

नमन्ति फलिनो वृक्षाः, नमन्ति गुणिनो जनाः।
शुष्ककाष्ठानि मूर्खाश्च, न नमन्ति कदाचन।।

फलयुक्त वृक्ष और गुणवान/ज्ञानी व्यक्ति झुक जाते हैं, किन्तु सूखा काष्ठ और मूर्ख टूट जाते हैं, कभी झुकते नहीं।

वेत्रवती नामक नदी वर्षाकाल में वेग के साथ अपने दोनों तटों को आप्लावित करती हुई समुद्र में पहुंची। वेत्रवती को अपने में एकाकार होते देखकर समुद्र ने कहा—वेत्रवती! तुम्हारा पानी तो बिल्कुल साफ है। अपने साथ कुछ भी नहीं लेकर आई? तुम्हारे दोनों तटों पर बेंत के वृक्ष भारी संख्या में उगे हुए हैं। कम से कम उन वृक्षों की टहनियां, शाखाएं या पत्ते, कुछ तो ले आती। समुद्र का उपालम्भ सुनकर वेत्रवती ने कहा—जब मैं वेग के साथ आगे बढ़ती हूं और मेरा जल वृक्षों की जड़ों तक पहुंचता है, तब उनके स्कन्ध पानी में डूब जाते हैं। वे तत्काल नीचे झुक जाते हैं। उन झुके हुए वृक्षों को मेरा जल

उखाड़ नहीं पाता। सचमुच, जो नमनशील होते हैं, वे अपने अस्तित्व को कायम रख लेते हैं।

व्यावहारिक जीवन में भी विनय का प्रयोग जिसके सामने जितना उचित हो, उतना करना भी चाहिए। साधु मिलें और हाथ न जोड़ें तो यह विनय का अतिक्रमण है। अहंकार विकास में बाधा पैदा करने वाला तत्व है, इसलिए इसे जितनी जल्दी हो सके, छोड़ देना चाहिए। कहा गया है—'लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।' जो व्यक्ति लाघव को स्वीकार करता है, झुकता है, विनम्र होता है, उसको प्रभुता, महानता, स्वामित्व की प्राप्ति होती है और जो स्वयं को बड़ा और श्रेष्ठ दिखाने का प्रयास करता है, उससे प्रभुता दूर चली जाती है। आदमी लघुता से प्रभुता को पाने का प्रयास करे।

८. माया पाप

आर्हत वाङ्मय में कहा गया है—**मायं चज्जवभावेण** अर्थात् ऋजुता से माया को जीतो। मनुष्य यदा-कदा माया का प्रयोग भी कर लेता है। आयारो में कहा गया है—**माई पमाई पुणरेइ गब्भं** अर्थात् मायावी और प्रमादी आदमी बार-बार गर्भ (जन्म) धारण करता है। आत्मा को मलिन बनाने के लिए माया भी जिम्मेवार तत्त्व है। आचार्य सोमप्रभसूरि ने कहा—**मायामविश्वास-विलासमंदिरम्** अर्थात् माया अविश्वास के रमण करने का एक स्थान है। जहां छलना है, प्रवंचना है, वहां विश्वास को टिकने में कठिनाई होती है। दसवेआलियं में कहा गया—**माया मित्ताणि नासेइ** अर्थात् माया मित्रता का नाश करने वाली होती है। जो मायाशील है, उसके ज्यादा मित्र बनने कठिन होते हैं, क्योंकि पता नहीं वह कब धोखा दे दे। वे पुरुष, वे मनुष्य पवित्र होते हैं, जो सरलता और निश्छलता का जीवन जीते हैं। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

मनस्येकं वचस्येकं वपुष्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् वपुष्यन्यद् दुरात्मनाम्।।

जो महात्मा या संत होते हैं, उनके मन में जो होता है, वही वाणी में होता है और वही उनके आचरण में होता है। जो दुरात्मा होता है, उसके मन में कुछ, वाणी में कुछ और कार्यकलाप में कुछ होता है। कथनी-करनी में असमानता रहती है। सरलता के लिए बच्चे को उद्धृत किया जाता है। मेरा ऐसा मानना है कि बच्चे में सरलता होती है तो उसमें नादानी भी होती है। बच्चे जैसी सरलता को स्वीकार करने के लिए, कोई बच्चे जैसी नादानी कर ले, यह कोई अच्छी बात नहीं है। बच्चा अज्ञानी होता है। वह न तो सर्प को समझता है, न अग्नि को समझता है। वह कहीं भी हाथ डाल देता है। ऐसी ही नादानी बीस-

पचीस वर्ष का युवक करने लगे तो वह कैसा लगेगा ? बच्चे की सरलता तो अनुमोदनीय है, पर उसमें अज्ञानता भी होती है। मैं उस सरलता को अधिक महत्व देना चाहूंगा जो ज्ञान के साथ जुडी हुई है। धोखा दे सकने में समर्थ व्यक्ति यदि सरलता को नहीं छोड़ता तो वह विशिष्ट बात होती है।

मुझे स्मरण हो रहा है एक बार पश्चिम रात्रि में परमपूज्य गुरुदेव तुलसी विराजमान थे। संत लोग उनके उपपात में बैठे थे। गुरुदेव ने संतों से प्रश्न किया—बताओ, साधुओं! अवस्था बढ़ने के साथ-साथ विकास किस चीज का होता है और ह्रास किस चीज का होता है ?

एक वरिष्ठ संत ने जवाब दिया—गुरुदेव ! अवस्था बढ़ने के साथ-साथ अनुभव का तो विकास होता है और सरलता का ह्रास होता जाता है। आज के बच्चे तो काफी होशियार होते हैं। कम्प्यूटर और टीवी के आसपास रहने वाले और मोबाइल रखने वाले बच्चे काफी तेज होते हैं।

दोपहर का समय था। मां स्टोर में रखे डिब्बों पर उसमें रखी सामग्री की पहचान के लिए उन पर लेबल लगा रही थी। उसके सात-आठ वर्ष के बच्चे ने भी अपनी मां से लेबल चिपकाने की अनुमति मांगी। मां ने अनुमति दे दी। वह उसे वस्तु का नाम लिखी पर्ची देती और बच्चा उसे निर्दिष्ट डिब्बे पर चिपका देता। कुछ ही देर बाद उसने अपनी मर्जी से नमक लिखा हुआ लेबल उठाया और चीनी के पात्र पर उसे चिपका दिया। मां का ध्यान उसके कार्यकलाप पर पहले से ही था। उसने बच्चे से कहा—यह क्या कर रहे हो, चीनी के डिब्बे पर नमक का लेबल ?

बच्चे ने कहा—जानता हूं मां, लेकिन ऐसा मैं चींटियों को धोखा देने के लिए कर रहा हूं। हमें तो पता है कि इसमें चीनी है, लेकिन चींटियां इस पर नमक का लेबल लगा देख इसकी ओर रुख ही नहीं करेंगी।

बच्चे की अपनी नादानी और बुद्धिमत्ता थी, किन्तु साधना यह है कि व्यक्ति समझदार होने पर भी छलना में न जाए। साफ रहना चाहिए, साफ कहना चाहिए और साफ सुनना भी चाहिए। व्यावहारिक जीवन में कई बार ऐसा लोगों को कहते सुना जा सकता है—मैं तो साफ-साफ कहनेवाला आदमी

हूं, किसी को अच्छा लगे या बुरा ? ऐसे लोगों से मेरा कहना है कि भाई, तुम साफ-साफ कहने वाले हो तो दूसरों की साफ-साफ सुनने की क्षमता भी तुममें होनी चाहिए। जो बात जैसी है, उसे वैसी ही कहना चाहिए। किसी को ठगने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

दो व्यक्तियों की मुलाकात हुई। बातचीत के प्रसंग में पता चला कि एक व्यक्ति के बाईस वर्ष का लड़का है और दूसरे व्यक्ति के अठारह वर्ष की लड़की है। दोनों सेठ अपनी संतानों की शादी के लिए योग्य वर-वधू की तलाश में थे। दोनों समान हैसियत वाले थे। संयोगवश हुई उस मुलाकात को दोनों ने अपना भाग्य माना। लेकिन लड़का-लड़की के बारे में आवश्यक जानकारी लेना जरूरी था। लड़की वाले की ओर से लड़के के बारे में जानकारी मांगी गई तो उसने कहा—मेरा लड़का लाखों में एक है। स्वभाव से विनम्र, सुन्दर, अच्छी कद-काठी का और शैक्षणिक योग्यता में एम.बी.ए. उत्तीर्ण है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सबको एक दृष्टि से देखता है। लड़की का पिता प्रभावित हुआ।

अब लड़के के पिता की ओर से लड़की के बारे में जानकारी मांगी गई तो उसने कहा—गृहकला में दक्ष, मृदुभाषी, सुशील और सुन्दर है। आपके बेटे की तरह मेरी बेटी भी एम. बी. ए. उत्तीर्ण है। सबसे बड़ी बात तो यह कि कामकाज से जी नहीं चुराती और परिश्रमी इतनी कि दिन भर एक पैर पर काम करती रहती है। अपने बेटे की बहू की सेठ ने जो कल्पना कर रखी थी, वह साकार प्रतिमा के रूप में जैसे सामने आकर खड़ी हो गई। फोटो और बायोडाटा के आदान-प्रदान की कोई जरूरत नहीं समझी गई। दोनों ने उसी समय शादी के लिए परस्पर रजामंदी दे दी। दिन निश्चित हो गया।

धूमधाम से लड़की के घर लड़के की बारात आई। लड़का सचमुच सुन्दर था, लेकिन रात्रि में भी काला चश्मा लगाए रखना कुछ लोगों को अटपटा लगा। फिर भी नया फैशन मानकर लोगों ने इस बारे में कोई जिज्ञासा नहीं की। उधर जयमाला के लिए लड़की को उसके भाई अपनी गोद में उठाकर लाए और सोफे पर बैठाया। लड़के वालों ने इसे लाड-प्यार में पली बहन के प्रति भाइयों का स्नेह माना। वास्तविक राज तब खुला जब फेरे का समय आया और

पंडितजी ने मंत्रोच्चार के साथ दोनों को खड़े होकर आवश्यक रस्म के निर्वाह का निर्देश दिया। उस समय दोनों की हकीकत सामने आ गई। जिसके लिए कहा गया था कि सबको एक दृष्टि से देखता है, वह एकाक्षी (एक आंख वाला) था और जिसे परिश्रमी और दिन भर एक पैर पर काम करती रहने वाली बताया गया था, उसके पैर एक ही था। लड़का और लड़की—दोनों के पिता ने कूट भाषा का प्रयोग कर वास्तविकता को छिपाते हुए एक-दूसरे को ठगा था। अब एक-दूसरे को कहते भी तो क्या कहते? दूसरे को ठगने वाला कभी स्वयं भी ठगा जा सकता है।

धर्म के क्षेत्र में सरलता का बड़ा महत्व है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि निर्वाण वह प्राप्त करता है, जिसके हृदय में धर्म होता है। धर्म उसके हृदय में होता है, जो शुद्ध होता है और शुद्ध वह होता है, जो ऋजु होता है, सरल होता है।

गार्हस्थ्य में भी सरल रहने का प्रयास करना चाहिए। जितना संभव हो आदमी को कुटिलता से बचना चाहिए। व्यक्ति को अपने जीवन में पारदर्शिता रखनी चाहिए कि जब चाहो, जहां चाहो, जिस तरफ से भी चाहो, देख लो, हमारे पास छिपाने को कुछ भी नहीं है। व्यापार-धंधा करते हुए भी आदमी को चाहिए कि वह सरलता का दामन कभी न छोड़े। बेईमानी से कमाई गई करोड़ों की दौलत की अपेक्षा ईमानदारी से कमाए गए कुछ सौ या हजार कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण होते हैं। ईमानदारी और सरलता भी एक बड़ी संपत्ति है। हमारी आस्था सचाई के प्रति हो। हमें सचाई को खोजने का, सचाई को आत्मसात् करने का और वैसा ही व्यवहार करने का प्रयास करना चाहिए। माया और झूठ—इन दोनों का गठजोड़ है। माया और मृषा—दोनों मिल जाते हैं तो यों लगता है, जैसे पाप और ज्यादा सघन हो गया हो।

हमें विचार करना चाहिए कि दिन-रात में कभी कुटिलता का मौका आता है क्या ? आत्मचिंतन करें कि आज सवेरे उठने के बाद से लेकर शयन करने तक किसी के साथ कुटिलता तो नहीं की ? अगर कपटाई की है तो सोचें कि उसके बिना मेरा काम नहीं चल सकता था क्या ? बिना कपट किए अगर काम चल सकता था तो कपटपूर्ण व्यवहार मैंने क्यों किया ? क्यों नहीं

मैंने सरलता का व्यवहार किया ? जहां सरलता है, वहां माया से होने वाला कर्मबंध नहीं होता। इसके विपरीत जहां कपट है, छलना है, झूठ है, वहां आदमी कर्म बंधन कर लेता है। जो आदमी माया, गूढ़ माया, असत्य वचन और कूट तौल-माप करता है, उसके तिर्यंच गति के आयुष्य का बंध हो सकता है। वह पशु की योनि में भी जा सकता है। फिर पता नहीं कितना कष्ट उसे भोगना पड़ सकता है, उसकी गति खराब हो सकती है। हम अभी मनुष्य हैं तो तिर्यंच गति में क्यों जाएं ? देव गति में जाएं तो वह एक बात है, मोक्ष में जाएं तो वह परम बात है। लेकिन मनुष्य होकर नरक गति में जाना पड़े, तिर्यंच गति में जाना पड़े, यह वांछनीय बात नहीं है। शास्त्रकार ने कहा—ऋजुता का अभ्यास करके हमें माया को जीतने का प्रयास करना चाहिए।

९. लोभ पाप

आर्हत वाङ्मय में कहा गया है—**लोहो सव्वविणासणो** अर्थात् लोभ सर्वनाशक है। विनाश करने वाले अनेक तत्त्व हैं। क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रों का नाश करती है, किन्तु लोभ तो सब कुछ नष्ट करने वाला है। प्रेम, विनय और मित्रता का नाश भी लोभ के द्वारा हो सकता है।

जिनदास चूर्णि में एक उदाहरण दिया गया है। वहां बताया गया है कि लोभ के वशीभूत होकर पुत्र अपने मृदु स्वभाव वाले पिता से रुष्ट हो जाता है—यह प्रीति का नाश है। उसे जब धन का भाग नहीं मिलता है तब वह उद्धत होकर प्रतिज्ञा करता है कि मैं धन का भाग अवश्य लूंगा—यह विनय का नाश है। वह कपटपूर्वक धन लेता है और पूछने पर स्वीकार नहीं करता—इससे मित्र भाव नष्ट हो जाता है। यह लोभ की सर्वगुणनाशक वृत्ति है। लोभ से वर्तमान और आगामी—दोनों जीवन नष्ट होते हैं। इस दृष्टि से भी इसे सर्वनाशक माना जा सकता है।

प्रश्न हुआ कि पाप का बाप कौन? उत्तर में कहा गया—लोभ पाप का बाप है। एक लोभ के कारण आदमी कितने-कितने पाप कर लेता है। इसके लिए वह हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है। अनेक पापों का जनक लोभ होता है। हमारे भीतर अनेक दुर्वृत्तियां हैं। उनमें एक है लोभ की वृत्ति। जिस आदमी में लोभ प्रबल है, उसमें तनाव ज्यादा हो सकता है। जो लोभमुक्त है, निर्लोभी है, निःस्पृह है, वह व्यक्ति शान्त और तनावमुक्त रह सकता है। इच्छा का कोई पार नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—

जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं।।८/१७।।

जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है। लाभ से लोभ बढ़ता है। दो मासे सोने से पूरा होने वाला कार्य करोड़ से भी पूरा नहीं हुआ।

दो मासा सोना पाने का इच्छुक कपिल कितनी आकांक्षा पाल बैठा। प्राचीन शास्त्र में कपिल ब्राह्मण की कथा आती है—कौशाम्बी नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी सभा में चौदह विद्याओं का पारगामी काश्यप नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम यशा और पुत्र का नाम कपिल था। राजा काश्यप से प्रभावित था और उसका बहुमान करता था। अचानक काश्यप की मृत्यु हो गई। उस समय कपिल की अवस्था बहुत छोटी थी। राजा ने काश्यप के स्थान पर दूसरे ब्राह्मण को नियुक्त कर दिया। वह ब्राह्मण जब घर से दरबार जाता, तब घोड़े पर आरूढ़ हो छत्र धारण करता था। काश्यप की पत्नी यशा जब यह देखती तो पति की स्मृति में विह्वल होकर रोने लगती। कुछ काल बीता। कपिल अब बड़ा हो गया था। एक दिन जब उसने अपनी मां को रोते देखा तो उसका कारण पूछा। यशा ने कहा—पुत्र, एक समय वह था,जब तुम्हारे पिता इसी प्रकार छत्र लगाकर दरबार में जाया-आया करते थे। वे अनेक विद्याओं के पारगामी थे। राजा उनकी विद्याओं से प्रभावित था। उनके निधन के बाद राजा ने उनका स्थान दूसरे को दे दिया है। कपिल ने कहा—मां ! मैं भी विद्या पढ़ूंगा।

यशा ने कहा—पुत्र! यहां सारे ब्राह्मण ईर्ष्यालु हैं। यहां कोई भी तुझे विद्या नहीं देगा। यदि तू विद्या प्राप्त करना चाहता है तो श्रावस्ती नगरी में चला जा। वहां तेरे पिता के परम मित्र इन्द्रदत्त नाम के ब्राह्मण हैं। वे तुझे विद्या पढ़ाएंगे।

कपिल ने मां का आशीर्वाद लेकर श्रावस्ती की ओर प्रस्थान किया। अपने समक्ष एक अपरिचित युवक को देखकर इन्द्रदत्त ने पूछा—तुम कौन हो, कहां से आए हो और यहां आने का क्या प्रयोजन है?

कपिल ने सारा वृत्तान्त सुनाया। इन्द्रदत्त कपिल के उत्तर से बहुत प्रभावित हुआ। उसने उसके भोजन की व्यवस्था शालिभद्र नामक एक धनाढ्य

वणिक के यहां करके अध्यापन शुरू कर दिया। कपिल प्रतिदिन सेठ के यहां भोजन करने जाता और इन्द्रदत्त से अध्ययन करता। उसे एक दासी की पुत्री भोजन परोसा करती थी। वह हंसमुख स्वभाव की थी। वह उसके प्रति आकर्षित हुआ और शनैः शनैः उसके साथ कपिल का संबंध प्रगाढ हो गया। एक बार दासीपुत्री ने कपिल से कहा—तुम मेरे सर्वस्व हो। लेकिन तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है और मैं भी जीवन-निर्वाह के लिए दूसरों के यहां रह रही हूं, अन्यथा मैं तुम्हारी आज्ञा में रहती।

इस प्रकार बहुत दिन बीत गए। दासी-महोत्सव का दिन निकट आया। दासी का मन बहुत उदास हो गया। रात्रि में उसे नींद नहीं आई। कपिल ने इसका कारण पूछा तो उसने कहा—दासी महोत्सव आ गया। मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं है। मैं कैसे महोत्सव मनाऊं ? मेरी सखियां मेरी निर्धनता पर हंसती हैं और मुझे तिरस्कार की दृष्टि से देखती हैं। कपिल का मन खिन्न हो गया। उसे अपने अपौरुष पर रोष आया। दासी ने कहा—तुम अपना धैर्य मत खोओ। समस्या का एक समाधान भी है। इसी नगरी में धन नाम का सेठ रहता है। जो व्यक्ति प्रातःकाल उसे सबसे पहले बधाई देता है, उसे वह दो मासा सोना देता है। तुम वहां जाओ और प्रातःकाल सबसे पहले बधाई देकर दो मासा सोना ले आओ। उससे प्रसन्नता के साथ मैं महोत्सव मना लूंगी।

कपिल ने उसकी बात मान ली। कोई व्यक्ति उससे पहले न पहुंच जाए, यह सोच वह तुरन्त घर से रवाना हो गया। रात्रि का समय था। नगर आरक्षक इधर-उधर घूम रहे थे। उन्होंने कपिल को चोर समझ कर बांध लिया और प्रभात में उसे प्रसेनजित राजा के समक्ष उपस्थित किया। राजा ने उससे रात्रि में अकेले घूमने का कारण पूछा तो कपिल ने सहज व सरल भाव से सारा वृत्तान्त सुना दिया। राजा उसकी स्पष्टवादिता पर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—ब्राह्मण! मैं तुझ पर बहुत प्रसन्न हूं। तू जो कुछ मांगेगा, वह तुझे मिलेगा। कपिल ने कहा—राजन्! मुझे कुछ सोचने का समय दिया जाए। राजा ने कहा—यथा इच्छा।

कपिल राजा की आज्ञा से अशोक वाटिका में चला गया। वहां उसने सोचा—दो मासा सोने से क्या होगा ? क्यों न मैं सौ मोहरें मांग लूं। चिन्तन

आगे बढ़ा। उसे सौ मोहरें भी तुच्छ लगने लगीं। हजार, लाख, करोड़ तक उसने चिंतन किया, परन्तु मन नहीं भरा। संतोष के बिना शान्ति कहां ? उसका मन आन्दोलित हो उठा। तत्क्षण उसे समाधान मिल गया। मन वैराग्य से भर उठा। चिंतन का प्रवाह मुड़ा। उसे जातिस्मृति ज्ञान प्राप्त हो गया। वह स्वयं बुद्ध हो गया। वह स्वयं अपना लुंचन कर प्रसन्न वदन हो राजा के पास आया। राजा ने कहा—क्या सोचा, बताओ ?

कपिल ने कहा—राजन् ! समय बीत चुका है। आपके राजकोष की सारी वस्तुएं मुझे तृप्त नहीं कर सकीं। किन्तु उनकी अनाकांक्षा ने मेरा मार्ग प्रशस्त कर दिया। जहां लाभ है, वहां लोभ है। ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है। दो मासा स्वर्ण की प्राप्ति के लिए मैं घर से निकला था, किन्तु मेरी तृप्ति करोड़ में भी नहीं हुई। तृष्णा अनंत है। उसकी पूर्ति वस्तुओं की उपलब्धियों से नहीं होती। वह होती है त्याग से,अनाकांक्षा से। राजा ने कहा—ब्राह्मण! मेरा वचन पूरा करने का मुझे अवसर दो। मैं करोड़ मोहरें देने के लिए भी तैयार हूं। कपिल ने कहा—राजन् ! तृष्णा की अग्नि अब शान्त हो गई है। मेरे भीतर करोड़ से भी अधिक मूल्यवान वस्तु पैदा हो गई है। मैं अब करोड़ मोहरों का क्या करूं ?

कभी-कभी ऐसा होता है कि भीतर का परिणाम जाग जाता है और सारा लोभ समाप्त हो जाता है। गृहस्थ लोग अपने भीतर झांके और देखें कि मेरे भीतर लोभ की वृत्ति कितनी है ? लोभ कम या ज्यादा अथवा बहुत ज्यादा किसी में विद्यमान हो सकता है। आकांक्षा हर किसी में मिल सकती है, किन्तु बुरी बात यह है कि उस आकांक्षा की पूर्ति के लिए आदमी अनुचित साधनों का सहारा लेने का प्रयास करता है।

आचार्य महाप्रज्ञजी ने एक बार फरमाया था कि मैंने हिन्दुस्तान के बहुत बड़े उद्योगपति से पूछा—तुम्हारे पास करोड़ों-करोड़ों रुपये हैं। फिर तुमने इतने बुरे काम क्यों किए, जिनसे तुम संकट में पड़ गए। वह बोला—महाराज! आपको सच्ची बात बताता हूं। मैं जब छोटा था, तब मेरे मन में एक भावना जागी कि मुझे हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा उद्योगपति बनना है। बिड़ला, टाटा

आदि सबको नीचे करना है और मुझे सबसे आगे जाना है। इसी भावना या आकांक्षा ने मुझसे ये सारे गलत काम करवाए।

आदमी को पैसे के प्रति आसक्ति से यथासंभव बचने का प्रयास करना चाहिए। लोग संस्थाओं को दान देते हैं और कई बार घोषणा यह करते हैं कि मैंने इतने का विसर्जन किया है। इसे विसर्जन नहीं कहना चाहिए। यह अनुदान है, आर्थिक सहयोग है, सामाजिक या लौकिक कार्य है। इसे विसर्जन की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। विसर्जन तो शुद्ध त्याग होता है। जैसे—आपने संकल्प कर लिया कि अमुक दिन के बाद इतनी संपत्ति से ज्यादा अपने पास रखने का मुझे त्याग है। इसे इच्छा परिमाण व्रत कहते हैं। इसमें एक सीमा से अधिक संग्रह का त्याग हो जाता है।

एक अवस्था आ जाने के बाद आदमी को अपनी इच्छाओं का और अधिक सीमाकरण कर लेना चाहिए। उसे स्वाध्याय, ध्यान, साधना और धर्म की दिशा में विशेष रूप से स्वयं को मोड़ लेना चाहिए।

परिवार के वृद्ध व्यक्ति संतोष धारण कर लें कि जीवनयापन के लिए मुझे जो साधन सामग्री चाहिए, उतनी मिल रही है तो मैं संतोष रखूं। श्रावक के तीन मनोरथों में एक मनोरथ है—कब मैं अल्पमूल्य एवं बहुमूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूंगा। एक मकान से मेरा काम चल जाता है तो तीन मकान अपनी मिल्कियत में क्यों रखूं ? परिग्रह जितना कम हो उतना ही अच्छा है। धन-धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, जमीन-जायदाद आदि के स्वामित्व से जितना मुक्त हुआ जा सके, उतना ही अच्छा है। साधु अकिंचनता की साधना करने वाला होता है। पुराने समय में गुरुदेव तुलसी पंचमी समिति के लिए पधारते तो लोग घोष लगाते। उसकी भाषा लगभग यही रही होगी—त्रिलोकी रा नाथ नै घणी-घणी खम्मा। मैंने सोचा—गुरुदेव तो अकिंचन हैं, फिर त्रिलोकी के नाथ कैसे हुए ? फिर मनन करने पर ज्ञात हुआ कि जिसके पास करोड़ हैं, वह करोड़ों का मालिक है, जिसके पास अरब-खरब हैं, वह अरबों-खरबों का मालिक है। किन्तु वे तीन लोक के मालिक नहीं हैं। एक अपेक्षा से तीन लोक का मालिक वही हो सकता है, जिसने सब कुछ त्याग दिया। संस्कृत में कहा गया—

अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यमिदं प्राहुः रहस्यं परमात्मनः।।

मैं अकिंचन हूं, इस प्रकार की भावना से अपने आपको भावित कर जो अकिंचन बन जाता है, वह तीन लोक का अधिपति बन जाता है।

फिर मैंने निष्कर्ष निकाला कि गुरुदेव तुलसी परिग्रह के त्यागी थे, इसलिए लोग उनको तीन लोक का नाथ कहते थे, ऐसा लगता है। परिग्रह का अल्पीकरण अभ्यास के द्वारा हो सकता है। लोभ को जीतने का उपाय है—जीवन में संतोष का विकास करना। साधु को संतोषी होना चाहिए। खाने को भिक्षा में जो मिल गया, रहने के लिए जैसी जगह मिल गई, उसमें संतोष रखे। किसी वस्तु विशेष की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए।

लोभ से संतोष की ओर आगे बढ़ना महत्त्वपूर्ण बात है। लोग धनार्जन करते हैं। यदि वे उसमें ईमानदारी रखते हैं तो इसे मैं उनके लोभ का त्याग ही मानूंगा। जो लोग प्रामाणिकता से व्यवसाय करते हैं, उनमें एक सीमा तक अलोभ या नैतिकता की चेतना का विकास हुआ है, ऐसा माना जा सकता है। आज भी बहुत से लोग ऐसे मिल सकते हैं जो गलत तरीके से अर्थार्जन से बचते हैं। ऐसे व्यापारियों से बाजार मंदार बन जाता है। नैतिकता के द्वारा लोभ की संज्ञा पर चोट पहुंचाई जा सकती है और लोभ को कम भी किया जा सकता है।

१०. राग पाप

आर्हत वाङ्मय में कहा गया है—**रागो य दोसो वि य कम्मबीयं** अर्थात् कर्म के दो बीज माने गए हैं—राग और द्वेष। पाप कर्म का जितना भी बंध होता है, उसके जिम्मेदार ये दो ही हैं। अन्य किसी भी कारण से पाप कर्म का बंध नहीं हो सकता। तात्त्विक भाषा में कहें तो आठ कर्मों में मूल एक मोहनीय कर्म ही ऐसा है, जो पाप कर्म के बन्धन के लिए जिम्मेदार है। अन्य किसी भी कर्म के द्वारा पाप कर्म का बन्ध नहीं हो सकता। अठारह पापों में दसवां पाप है—राग। राग एक ऐसी वृत्ति है, जिसे छोड़ना ज्यादा कठिन है। द्वेष को छोड़ना कुछ आसान है। द्वेष पर सीधी दृष्टि जाती है, परन्तु राग पर नहीं जाती। द्वेष छोड़ने पर राग रह जाता है। इसीलिए वीतराग कहा जाता है, वीतद्वेष नहीं। परिवार के साथ राग हो जाता है, मित्रों के प्रति मोह या राग हो जाता है और मुझे तो ऐसा लगता है, कहीं-कहीं साधु-साधु में भी कुछ राग हो जाता है। जैसे—एक सिंघाड़े में वर्षों तक साथ रहने का काम पड़ जाता है तो उस सिंघाड़े के अग्रणी के प्रति, सदस्यों के प्रति मोह भाव भी हो जाता है और कहीं शिष्य के प्रति गुरु के मन में भी राग हो जाता है।

आचार्य शय्यंभव श्रुतकेवली आचार्य थे। परन्तु एक शिष्य के प्रति मोह आ गया, जो उन्हीं का संसारपक्षीय पुत्र था। उसका नाम था मनक। वह अपने पिता की खोज में निकला तो योग से चंपानगरी में शय्यंभव से मिलना हो गया।

बालक ने पूछा— ठीक आप जैसे ही मेरे पिताजी भी हैं। क्या आप उन्हें जानते हैं ?

शय्यंभव—हां, मैं उन्हें जानता हूं।

शय्यंभव की प्रेरणा से मनक के मन में वैराग्य भाव जागा और उसको दीक्षा प्रदान कर दी गई। आचार्य शय्यंभव ने अपने ज्ञान से जान लिया कि इसका आयुष्य बहुत छोटा है। थोड़े दिनों के जीवनकाल में यह ज्यादा स्वाध्याय नहीं कर सकेगा। इसलिए उन्होंने एक छोटा-सा आगम निर्यूढ़ किया—दसवेआलियं। आज भी साधु-साध्वियां उसका स्वाध्याय करते हैं, उसे कंठस्थ करते हैं। कुछ समय बाद बाल मुनि मनक का स्वर्गवास हो गया। आचार्य शय्यंभव की आंखें भी नम हो गईं। संतों ने इसका कारण पूछा तो आचार्य शय्यंभव ने कहा—साधुओ ! मनक के साथ मेरे दो संबंध थे। एक तो यह मेरा शिष्य था, दूसरा यह मेरा संसारपक्षीय बेटा भी था। दो-दो रिश्तों से जुड़ा हुआ व्यक्ति मेरी आंखों के सामने चला गया, इसलिए मन में कुछ कमजोरी आ गई।

साधुओं को अब पता चला कि मनक उनका बेटा था। संतों ने कहा—गुरुदेव ! आप हमें पहले बता देते कि वह आपका बेटा है तो हम उसका विशेष ध्यान रखते।

आचार्य शय्यंभव ने कहा—साधुओ! तुम उसका ध्यान रखते, उससे परिचर्या नहीं करवाते तो उसके कर्म निर्जरा कैसे होती ? इसीलिए मैंने इस रहस्य को उद्घाटित नहीं किया कि यह मेरा संसारपक्षीय बेटा है।

यहां मैं यह बताना चाहता हूं कि इतने बड़े आचार्य थे शय्यंभव, परन्तु उनके मन में भी एक शिष्य के प्रति, पुत्र के प्रति थोड़ा-सा मोह भाव आ गया। जब इतने बड़े आचार्य के मन में भी दिलगीरी आ सकती है तो गृहस्थ तो वैसे भी संसारी जीव है, उसके मन में भी मोह आए तो कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु मोह को कम करने का, छोड़ने का प्रयास करना चाहिए। शिष्य के मन में गुरु के प्रति और गुरु के मन में शिष्य के प्रति क्वचित किंचित धर्म से जुड़ा हुआ राग भाव है तो हम उसे प्रशस्त कोटि का राग मान लें। परन्तु अप्रशस्त राग को तो छोड़ने का विशेष प्रयास करें। एक वस्तु के गुम हो जाने पर आदमी के मन में अगर पीड़ा हो रही है तो मानना चाहिए कि उसके मन में पदार्थ के प्रति मोह है।

आयारो में कहा गया–**माया मे, पिया मे, भाया मे, भइणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुण्हा मे सहि-सयण-संगंथ-संथुआ मे, विवित्तोवगरण-परियट्टण-भोयण-अच्छायणं मे, इच्चत्थं गढिए लोए–वसे पमत्ते। २/१/२**

मेरी माता, मेरा पिता, मेरा भाई, मेरी बहिन, मेरी पत्नी, मेरा पुत्र, मेरी पुत्री, मेरी वधू, मेरा मित्र, मेरा स्वजन, मेरे स्वजन का स्वजन, मेरा सहवासी, मेरे प्रचुर उपकरण, परिवर्तन (आदान-प्रदान की सामग्री) भोजन, वस्त्र–इनमें आसक्त पुरुष प्रमत्त होकर उनके साथ वास करता है।

गृहस्थ का जीवन काफी मोह का जीवन है, राग का जीवन है, ममता का जीवन है। आदमी का अपने परिवार के प्रति मोह हो सकता है, मकान के प्रति मोह हो सकता है, धन के प्रति, दुकान के प्रति मोह हो सकता है। गृहस्थी चलाना भी कोई आसान काम नहीं है। मैं तो कभी-कभी सोचता हूं कि एक दृष्टि से साधु का जीवन तो आसान है, किन्तु गार्हस्थ्य में रहना कुछ कठिन है। एक मोक्ष का मार्ग है, दूसरा मोह का मार्ग है। हम साधुओं की जो साधना पद्धति है, वह मोक्ष का मार्ग है और गृहस्थों का जो जीवन है, वह कुछ अंशों में या काफी अंशों में मोह का मार्ग है, संसार का मार्ग है। हां, इतना जरूर है कि गृहस्थ भी साधना कर सकते हैं। गार्हस्थ्य में रहकर भी काफी निर्लिप्त रह सकते हैं। इस सोच के साथ कि मुझे परिवार का पालन करना है, किन्तु परिवार मेरा नहीं है। जैसे धाय माता बालक का लालन-पालन करते हुए भी यह जानती है कि पुत्र मेरा नहीं है।

एक मेरी आत्मा शाश्वत है, जो ज्ञान, दर्शन से युक्त है। शेष जो बाह्य भाव हैं, वे तो संयोग लक्षण वाले हैं। जिसका संयोग होता है, उसका वियोग भी हो जाता है। श्रावक यह सोचे कि मैं परिवार का भरण-पोषण करता हूं, यह मेरा कर्त्तव्य है किन्तु अन्ततोगत्वा परिवार मेरा नहीं है। 'कुण बेटो कुण बाप, करणी आपो आप।' पिता हो या पुत्र, सबको अपनी-अपनी करणी के अनुसार फल मिलेगा।

व्यक्ति की यह भावना होनी चाहिए कि जब अपने कर्मों के अनुसार फल

भोगना है तो परिवार में रहते हुए भी जितना संभव हो सके, निर्लिप्त और अनासक्त रहने का प्रयास करूं। पदार्थों के प्रति हमारे मन में ज्यादा मोह न हो। उनका उपयोग करना होता है, उन्हें काम में लेना होता है, किन्तु उनमें अनासक्त रहना चाहिए। यह अमोह की साधना है, राग से मुक्त होने की साधना है।

श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रसंग को पढ़कर लगा कि उनमें कितनी समाज के प्रति सेवाभावना और अनासक्ति का भाव था। एक दिन वे प्रातःकाल घूमने जा रहे थे। अकस्मात् एक दुःखी आदमी को देखा। वह सुबक-सुबक कर रो रहा था। श्री विद्यासागर उसके पास गए और दुःख का कारण पूछा। वे सादी वेश-भूषा में थे, अतः उसने कहा—मैं धनकुबेरों के तलुवे सहला कर भी निराश लौट आया, तो आप मेरी क्या सहायता करेंगे?

जहां तलवार काम नहीं आती, वहां सुई काम आ सकती है। संभव है मुझ जैसा अकिंचन व्यक्ति कुछ उपयोगी सिद्ध हो जाए। श्री विद्यासागरजी ने आत्मीयतापूर्वक कहा।

तब दुःखी आदमी ने कहा—मेरे बुजुर्गों की सम्पत्ति केवल एक घर है। वह आज नीलाम हो जाएगा। फिर हम कहां रहेंगे? पूर्वजों का नाम ही मिट जाएगा, इसीलिए रो रहा हूं।

विद्यासागर ने कहा—आप अपना पता बता दीजिए संभवतः कुछ काम बन जाए।

विद्यासागर अगले दिन कचहरी गए और उसके नाम से तेईस सौ रुपए जमा करा दिए। वह दिनभर कचहरी वालों की बाट देखता रहा, लेकिन कोई नहीं आया। जब वह कचहरी गया तो खुशखबरी मिली की कोई सज्जन प्रातःकाल आकर तेईस सौ रुपए जमा करा गए। उसे कुछ राहत मिली और सोचने लगा—संभवतः यह पुनीत कार्य उन्हीं सज्जन का है जो प्रातः टहलने के समय मिले थे।

फिर एक दिन अचानक जब विद्यासागर उसे मिले तो वह उनके पैरों में गिर पड़ा और कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहने लगा—आपने मुझे उबार लिया।

इस उपकार के बदले मेरे पास कुछ भी नहीं है।

विद्यासागर ने शान्त भाव से कहा—तुम अगर उपकार का बदला चुकाना चाहते हो तो मुझे वचन दो कि इस घटना के बारे में किसी से नहीं कहोगे। वह गरीब व्यक्ति उनके इस आसक्ति-विसर्जन पर चकित रह गया।

साधु का जीवन तो अमोह की साधना का होता ही है अथवा होना ही चाहिए। चूंकि उसने घर-परिवार छोड़ दिया, व्यापार-धंधा छोड़ दिया, धर्म और अध्यात्म के वातावरण में आ गया, इसलिए उसका जीवन तो साधना प्रधान होना ही चाहिए। परन्तु श्रावक भी एक साधक है, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक है। वह भी अमोह की साधना और रागमुक्ति की साधना का विकास करे। आसक्ति से सघन कर्मों का बंध होता है और अनासक्तियुक्त कार्य से कर्मों का बंध सघन नहीं होता।

धन्य हैं वे आत्माएं और वे संतजन, जो अपने जीवन में अमोह की साधना करते हैं, राग भाव से मुक्त होने और वीतरागता के अभ्यास का प्रयास करते हैं। जैनधर्म में वीतरागता को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है। आदमी अपने जीवन का यह ध्येय बनाए कि उसे वीतरागता की दिशा में आगे बढ़ना है। जैनधर्म के नमस्कार महामंत्र में भी वीतरागता केन्द्रीय तत्व है। हम नमस्कार महामंत्र का जप करें, साधना करें, अभ्यास करें, जिससे हमारे जीवन में वीतरागता पुष्ट हो। हम आत्मालोचन करें, अनुप्रेक्षा करें, अनुचिंतन करें कि हम कितने वीतराग भाव की ओर अग्रसर हो रहे हैं ? कितना वीतराग भाव हम आत्मसात कर सकते हैं ? वीतरागता बढ़ती है तो हमारी साधना पुष्ट होती है। वीतरागता पुष्ट न हो तो साधना की कोई खास निष्पत्ति नहीं आ सकती। साधु हो या श्रावक, सभी वीतरागता की दिशा में आगे बढ़ें। हम समता की साधना करें और अठारह पापों में जो दसवां पाप राग है, उसे कृश करने का प्रयास करें।

११. द्वेष पाप

आर्हत वाङ्मय में दो बंधन बताए गए हैं—**पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहिं—रागबंधणेणं दोसबंधणेणं।** राग भी एक बंधन है और द्वेष भी एक बंधन है। अध्यात्म की साधना में राग-द्वेष का त्याग करना आवश्यक होता है। आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए कौन आदमी कितना राग-द्वेष से मुक्त हुआ है, बस यही कसौटी है। आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम ही परमात्मा है। जैनदर्शन में कहा गया है कि आत्मा साधना के द्वारा परमात्म पद को प्राप्त हो सकती है। जिस प्रकार सोना प्रारंभिक अवस्था में मिट्टी से मिला-जुला रहता है, किन्तु जब उससे मिट्टी अलग कर दी जाती है, तब स्वर्ण में निखार आ जाता है। इसी प्रकार आत्मा कर्मों की मिट्टी से आवृत या ढकी हुई है। उन कर्मों को तपस्या, साधना के द्वारा दूर कर दिया जाता है, तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है।

राग-द्वेष की तरंगों से जिसका मन तरंगित नहीं होता है, वह व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है। अन्य किसी को साक्षात्कार का योग प्राप्त नहीं हो सकता। एक तालाब में पानी भरा हुआ है। कोई उस तालाब के भीतरी भाग को देखना चाहे तो उसके लिए दो शर्तें हैं। पहली शर्त तो यह है कि तालाब का पानी स्वच्छ होना चाहिए और दूसरी शर्त है कि तालाब का पानी स्थिर होना चाहिए। तालाब का पानी गंदा है और उसमें तरंगें उठ रही हैं तो तालाब के तल को देखा नहीं जा सकता। इसी प्रकार जब राग-द्वेष की तरंगें शान्त हो जाएंगी और भाव शुद्ध हो जाएंगे, तब आदमी आत्मसाक्षात्कार कर सकेगा।

सामान्य आदमी कभी राग में प्रवृत्त हो जाता है और कभी द्वेष में चला

जाता है। गुरु शिष्य को उसके हित के लिए डांटते हैं तो उसे द्वेष नहीं कहा जा सकता, जैसे–किसी शिष्य ने एक बार गलती की। गुरु ने उसे सचेत किया। शिष्य ने फिर दूसरी बार गलती की, गुरु ने फिर सचेत किया। तीसरी बार गलती की तो गुरु ने डांटा। स्थूल भाषा में उसे गुस्सा कहा जा सकता है। लेकिन उसके मूल में भावना यही है कि शिष्य का प्रमाद छूट जाए। शिष्य के प्रमाद के निवारण के लिए गुरु ने कड़ाई से कहा। उनका आक्रोश या गुस्सा, जो शब्दों में है, वह शिष्य के हितार्थ होता है, क्योंकि उसके पीछे भावना दुःख देने की नहीं है, शिष्य का हित करने की, उसका विकास कराने की है। डॉक्टर या कंपाउण्डर इंजेक्शन लगाता है, तब एक बार थोड़ा-सा दर्द होता है। परन्तु डॉक्टर की भावना रोगी को दुःख पहुंचाना नहीं है, रोगी को स्वास्थ्य लाभ देना है। इसी तरह गुरु उलाहना देते हैं, थोड़ी-सी कड़ाई करते हैं तो वह शिष्य के लाभ के लिए की जाती है। वहां उद्देश्य कष्ट पहुंचाना नहीं, शिष्य का निर्माण करना है।

जो शिष्य गुरु की कठोर वाणी को, तिरस्कार को सहन कर लेता है, वह शिष्य महानता को प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार जो मणि शाण पर खरी नहीं उतरती है, वह राजा के मुकुट में स्थान पाने योग्य नहीं होती है। उसी तरह जो शिष्य गुरु के उपालंभ को सहन न कर सके, उलाहने को झेल न सके, उसके महान बनने में थोड़ा अवरोध है।

गुरु का उलाहना परिशोधन के लिए, विकास के लिए और परिष्कार के लिए होता है। हमारे धर्मसंघ में तो यहां तक कहा गया है कि गुरु उलाहना दें तो यह समझो कि वे अमृत का प्याला पिला रहे हैं। कितनी श्रद्धा की बात है। यानी उस उलाहने को भी बहुत सम्मान के साथ ग्रहण करना चाहिए। गुरु की डांट को, गुरु के कड़े एक्शन को कभी भी बुरा नहीं मानना चाहिए।

सेवा, समर्पण और श्रद्धा का भाव साधु-साध्वियों और समण-समणियों में तो है ही, श्रावक-श्राविकाओं में भी कम नहीं है। हमारे श्रावक-श्राविकाएं भी गुरु इंगित के प्रति इतने समर्पित हैं कि उस पर गौरव किया जा सकता है। इतने पढ़े-लिखे श्रावक हैं, वेल एजुकेटेड हैं, समाज में बड़े-बड़े पदों पर हैं, पर गुरु-इंगित पर बिल्कुल प्रणत हो जाते हैं। वे कोई भी काम करने से पहले गुरु-

इंगित को जानने और समझने का प्रयास करते हैं। गुरु इंगित को जानने की यह भावना श्रावक-श्राविका समाज का आभूषण है। यह श्रद्धा-समर्पण की भावना हमें परंपरा से प्राप्त है। इस परंपरा को बनाए रखना हमारा कर्तव्य है।

आदमी में द्वेष का भाव नहीं आना चाहिए। कभी कोई आपस में बात भी हो जाए तो उसे लंबाना नहीं चाहिए। निकट के दो बर्तन भी आपस में टकरा जाते हैं। इसी तरह साथ-साथ रहने वाले व्यक्तियों में क्षणिक विवाद भी हो सकता है। किन्तु शीघ्र ही उसका समाधान कर लेने का प्रयास करना चाहिए। मन में ईर्ष्या का भाव नहीं होना चाहिए। अमुक तो आगे बढ़ गया और मैं पीछे रह गया, इसकी न तो मन में कोई कुंठा पनपनी चाहिए, न ईर्ष्या और जलन का भाव पैदा होना चाहिए। दूसरों के विकास को देखकर प्रमोद भावना जागे, प्रसन्नता हो कि उसने कड़ा श्रम किया तो उसका विकास हुआ है और हो रहा है। इसी तरह मैं भी परिश्रम करूं तो मेरा भी विकास हो सकता है। द्वेष भाव से उसे गिराने की भावना मन में नहीं लानी चाहिए। ईर्ष्या पुरुषों में भी हो सकती है और स्त्रियों में भी हो सकती है। हालांकि संस्कृत साहित्य में तो यह कहा गया है—**नहि नार्यो विनेर्ष्यया।** नारी ईर्ष्या के बिना रहे, ऐसा हो नहीं सकता। लेकिन नारी हो या पुरुष, ईर्ष्या किसी में भी नहीं रहनी चाहिए।

ईर्ष्या के संदर्भ में एक कथानक मिलता है। यक्ष वज्रधर के अनुचर देवता खगाक्ष ने एक बार वज्रधर से कहा—मैं अपने पूर्वजन्म के दो विरोधी भाइयों जयकिशन व गंगाविशन से प्रतिशोध लेना चाहता हूं। आप मुझे कोई ऐसा उपाय बताएं, जिससे उन दोनों को दर-दर का भिखारी बना दूं। यक्ष वज्रधर ने कहा—अभी उन दोनों के पुण्य प्रबल हैं। इसलिए तुम उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकोगे। कोशिश करो, यदि दोनों में ईर्ष्या की भावना जाग जाए और फूट पड़ जाए तो उनके पुण्य जल्दी क्षीण हो जाएंगे और वे आसानी से दरिद्र बन जाएंगे। खगाक्ष तुरन्त इस कार्य में लग गया। रात्रि में नाना प्रकार के दृश्य दिखाकर दोनों की मति भ्रष्ट करने लगा। कुछ ही दिनों में दोनों मन ही मन एक-दूसरे का अहित सोचने लगे। परस्पर ईर्ष्या करने लगे। खगाक्ष ने अवसर देखकर जयकिशन को रात्रि में आकर जगाया और कहा—मैं तुम्हारा कुलदेवता हूं। कोई वरदान मांगो। जयकिशन प्रसन्न होकर बोला—आपकी कृपा से मुझे

किसी वस्तु की कमी नहीं है। केवल मन में एक ही कसक है—किसी प्रकार गंगाविशन का गर्व चूर करके उसे फुटपाथ पर ला दो। देव तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गया। वहां से खगाक्ष गंगाविशन के पास पहुंचा और उसे भी वरदान मांगने के लिए कहा। गंगाविशन ने कहा—हे देव! जयकिशन को भिखारी बना दो। उसकी सारी सम्पत्ति नष्ट कर दो। देव तथास्तु कहकर चला गया। दूसरे दिन रात्रि को शहर में भारी भूकम्प आया। शहर के सभी निवासी घरों से बाहर आ गए। देखते-देखते गंगाविशन और जयकिशन की बड़ी हवेलियां, दुकानें, गोदाम सभी धराशायी हो गए और उनमें आग लग गई। सब कुछ समाप्त हो गया। शहर में और किसी का कोई नुकसान नहीं हुआ। दोनों को पूछने पर पता चला कि दोनों ने ही एक-दूसरे को बरबाद करने के लिए देवता से वरदान मांगा था। ईर्ष्या के कारण दोनों भाई बरबाद होकर दर-दर की ठोकरें खाने लगे।

यह ईर्ष्या का भाव है जो दूसरों को दुःख देने के साथ-साथ स्वयं को भी दुःखी बना सकता है। हम दे सकें तो दूसरों को आध्यात्मिक सहयोग दें, मानसिक प्रसत्ति दें, किसी के कल्याण में निमित्त बनें। किसी को शारीरिक या मानसिक संताप देना पाप है। किसी के प्रति द्वेष और अमंगल की भावना नहीं होनी चाहिए। हम साधु-साध्वियों के लिए तो यह अभीष्ट है कि हम अपनी साधना का विकास करें, कषाय को मंद करने का प्रयास करें। मोह का ही एक नाम है—कषाय। जो भी राग-द्वेषात्मक पाप हैं, वे सब कषाय हैं। यह प्रयास होना चाहिए कि भीतर के कषाय हमारी बाह्य प्रवृत्ति में न आएं। साधना की सफलता कषाय क्षीणता पर निर्भर है। कषाय प्रतनु हो गए, क्षीण हो गए तो साधना अपने आप सिद्ध होती चली जाती है।

हमारी साधना के विभिन्न उपक्रम हैं। उनके तार कषायविमुक्ति से जुड़े होते हैं। एक साधक कभी ध्यान करता है, कभी स्वाध्याय करता है, कभी सेवा करता है। इन सबके पीछे कारण एक ही है—कषायमुक्ति। कषायमुक्ति हो गई तो मोक्ष में देर नहीं है। साधक का लक्ष्य हो और तदनुरूप प्रयास हो तो वह कषायमंदता की ओर अग्रसर होता चला जाता है।

हमारे धर्मसंघ में पांचवें आचार्य हुए हैं—आचार्य मघवा। उनकी संतता

अपने आप में विशिष्ट थी, इसीलिए उनके लिए कहा गया—वीतरागकल्प आचार्य मघवा। वे वीतरागतुल्य थे। उनकी क्षमाशीलता की साधना हमारे लिए प्रेरणाप्रद है। एक बार जयाचार्य ने व्याख्यान के दौरान सबके बीच युवाचार्य मघवा को ज़पालंभ दिया। युवाचार्य मघवा ने बड़ी विनम्रता के साथ उस उपालंभ को शिरोधार्य किया। कषाय यदि मंद है तो उलाहने आदि को आसानी से सहा जा सकता है, अन्यथा मन में नकारात्मक प्रतिक्रिया भी हो सकती है।

सरदारशहर में एक व्यक्ति ने मघवागणी को बतलाया कि अमुक व्यक्ति आपको गालियां दे रहा था।

मघवागणी ने कहा—जब तक मैं स्वीकार न कर लूं, तब तक मुझे कोई गाली कैसे दे सकता है ?

व्यक्ति—मैंने स्वयं अपने कानों से गालियां सुनी हैं। वह आपका ही नाम ले-लेकर बक रहा था। मैं उस समय वहीं उपस्थित था।

मधवागणी—हो सकता है वह अपनी शक्तिमत्ता का प्रदर्शन करने के लिए ऐसा कह रहा हो। न मैंने उन्हें सुना और न स्वीकारा, तब मेरे लिए तो वे किसी दूसरे को दी गई गालियों के समान ही हैं।

साधक हर बात को ग्रहण न करे। ग्रहण उसी बात को करे, जो उसकी साधना में सहायक हो सकती है। हर बात पर वह प्रतिक्रिया भी न करे। अनपेक्षित बात को दिमाग में न रखे, उसे निकाल दे। वह बर्फ की शिला जैसा बन जाए, जिस पर पड़नेवाली धूल, मिट्टी आदि उस पर टिकती नहीं, तुरन्त फिसल जाती है और बर्फ की शिला श्वेत, स्वच्छ और चमकदार बनी रहती है। व्यर्थ की बातें दिमाग में टिक गईं तो वे ग्रंथि बनकर तनाव पैदा कर सकती हैं।

हमारे जीवन में प्रतिकूलताएं आएं तो हम उचित रूप में उन्हें सहन करने का प्रयास करें। अनुकूलताओं में भी सम रहने का प्रयास करें और अपनी साधना को आगे बढ़ाते रहें। हम द्वेष से बचकर प्रमोद भावना और सहयोग की भावना से ओतप्रोत बने रहें, यह काम्य है।

१२. कलह पाप

आर्हत वाङ्मय में कहा गया है—**कलह विवज्जणा** अर्थात् ऋषियों के लिए, साधुओं के लिए अपेक्षित है कि वे कलह का वर्जन करें। अठारह पापों में एक पाप है—कलह। अकेला आदमी होता है, वहां कलह की संभावना नहीं होती। अनेक व्यक्ति जहां साथ में रहते हैं, वहां कलह पैदा हो सकता है। जैन साधना पद्धति में एकाकी साधना का भी वर्णन आता है। ऐसे भी मुनि होते हैं, जो संघमुक्त एकाकी साधना करते हैं। प्राचीन साहित्य में यहां तक आता है कि किसी आचार्य के मन में आ जाए कि मैं अकेला संघमुक्त होकर साधना करूं तो आचार्य भी अकेले रहकर साधना कर सकते हैं, परन्तु उनके लिए यह आवश्यक है कि वे पहले संघ की व्यवस्था करें। अपने शिष्य को तैयार कर उसे दायित्व सौंप दें और संघ को सन्देश दें कि मेरे पीछे यह है। सब साधु-साध्वियां इसकी आज्ञा में चलें। फिर आचार्य अकेले वहां से प्रस्थान कर देते हैं और संघ पीछे उन्हें देखता रहता है, जब तक वे आंखों से ओझल नहीं हो जाते। संघ के सदस्य सोचते हैं कि हमारे गुरुदेव कठिन मार्ग स्वीकार कर रहे हैं। संघीय जीवन या स्थविर कल्प की जो अनुकूल या सुविधापूर्ण स्थिति थी, उसे छोड़कर वे एकाकी साधना का पथ स्वीकार कर रहे हैं। एकाकी साधना हर कोई नहीं कर सकता। विशेष साधक ही एकाकी साधना के योग्य बन सकते हैं। सामान्यतया तो संघबद्ध साधना ही की जाती है। जहां दो हैं, वहां संघर्ष हो सकता है। चूड़ियां अनेक थीं तो आवाज आ रही थी, संघर्ष हो रहा था। एक ही रह गई तो कोई आवाज नहीं आई। मनुष्य भी अनेक साथ में रहते हैं तो आवाज आ जाती है। सात्त्विक प्रेम की आवाज आए तो दिक्कत नहीं, अपेक्षित आवाज आए तो दिक्कत नहीं, पर कलह की आवाज आने लग जाती है तो कुछ कठिनाई की स्थिति पैदा हो जाती है।

उपशान्त कलह की उदीरणा करना, पुरानी बातों को उठाना, पुरानी बातों को याद करके फिर कलह पैदा कर देना अवांछनीय माना गया है। उपशान्त कलह की उदीरणा नहीं होनी चाहिए। झगड़ा होता है तो उसके पीछे कारण भी होता है। अहंकार टकराता है, तो आवेग आ जाता है या सामने वाला मेरा अहित कर रहा है, ऐसा आभास होता है तो परस्पर कलह भी पैदा हो सकता है। पारिवारिक जीवन में कहीं-कहीं कलह देखने को मिलता है। भाई-भाई आपस में बोलते नहीं हैं। कभी राम-लक्ष्मण कहलाने वाले भाई राम-रावण जैसे बन जाते हैं। मित्रों की मैत्री भी टूट जाती है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

यूयं वयं वयं यूयम् इत्यासीन्मतिरावयोः।
किं जातमधुना येन, यूयं यूयं वयं वयम्।।

दो मित्रों के बीच एक समय यह भाषा चलती थी कि जो तुम हो, वह हम हैं और जो हम हैं, वह तुम हो। बाद में संबंध टूटा तो भाषा यह बन गई—तुम-तुम, हम-हम। जहां स्वार्थ प्रभावी होता है, वहां कलह को पैदा होने का मौका मिलता है। स्वार्थ की चेतना कलह उत्पत्ति का स्थान है। परार्थ की कामना हो, परहित की भावना हो तो कलह को पनपने से बचाया भी जा सकता है। भाई-भाई में तनाव हो जाता है, पति-पत्नी में तनाव हो जाता है। शादी होते ही नवदम्पति को कुछ प्रशिक्षण दिया जाए, ताकि जो नए दम्पति बने हैं, वे अपना दाम्पत्य जीवन सामंजस्यपूर्ण रख सकें। दाम्पत्य जीवन में अशान्ति है, कलह है तो वह दुःखपूर्ण हो जाता है। अगर कोई दम्पति साठ-सत्तर वर्ष तक साथ में रहते हैं और प्रायः शान्ति में जीते हैं, झगड़ा-कलह नहीं होता है तो मैं उसे दाम्पत्य जीवन की साधना मानता हूं। अनेक युगल ऐसे मिल सकेंगे जो काफी शान्ति से जीने वाले हैं। अगर स्वार्थ हावी न हो और सहिष्णुता हो तो कलह से काफी बचा जा सकता है। परिवारों में सौहार्द और शान्ति का माहौल रहे। संयुक्त परिवार हो, चार-पांच भाई साथ में रहें, यह कुछ कठिन भी हो सकता है। परन्तु उनमें परस्पर वैमनस्य नहीं होना चाहिए। अलग-अलग रहते हुए भी भावात्मक एकता के तार से जुड़े रहें तो वह एक तरह का संयुक्त परिवार का ही छोटा-सा रूप बन जाता है।

पिता के दो पुत्र थे। दोनों बेटे साथ में रह रहे थे। एक समय आया, जब पिता का देहावसान हो गया। दोनों भाइयों ने सोचा कि अब दोनों का परिवार बढ़ गया है, इसलिए अलग-अलग हो जाना चाहिए, संपत्ति का बंटवारा कर लेना चाहिए। प्रेमपूर्वक बंटवारा हो जाए तो अच्छा है, बजाय इसके कि झगड़ा होने के बाद बंटवारा करना पड़े। दोनों भाई बैठे और एक-एक चीज बांटते गए। दो मकानों में एक-एक मकान दोनों ने ले लिया। इसी तरह दो दुकानों में से एक-एक दुकान दोनों ने ले ली। काफी चीजों का बंटवारा हो गया। शेष बचा घर का पुराना आदमकद दर्पण। वह बहुत कीमती था, इसलिए उसके प्रति दोनों भाइयों में आकर्षण था। बड़े भाई ने कहा, इसे मैं लूंगा और छोटे भाई ने कहा, मैं लूंगा। दोनों समझपूर्वक चलते तो कोई हल निकल सकता था, लेकिन परस्पर की खींचतान ने तनाव पैदा कर दिया। उस दर्पण को लेकर दोनों भाइयों में तीखी तकरार हुई और शीघ्र ही वह वैर में तब्दील हो गई।

किसी शुभचिन्तक ने उन्हें सलाह दी कि आपस में लड़ने की बजाय किसी तटस्थ व्यक्ति को मध्यस्थ क्यों नहीं बना लेते। वह जो निर्णय दे, उसे दोनों भाई स्वीकर करो। दोनों को यह सलाह उचित लगी। दोनों ने सोचा कि हमारे मुनीमजी बुजुर्ग हैं, परिवार के हितैषी भी हैं। दो पीढ़ियों से हमारे परिवार की देखभाल करते आ रहे हैं। उनसे अच्छा मध्यस्थ और कौन हो सकता है ? दोनों ने मुनीमजी को बुलाया। वयोवृद्ध मुनीमजी आए,परस्पर कुशलक्षेम पूछी गई। कुछ औपचारिक बातों के बाद बड़े भाई ने कहा—मुनीमजी ! आपको पता ही है कि हम दोनों भाइयों ने बंटवारा कर लिया है। प्रायः सभी चीजें बांट ली हैं। एक दर्पण को लेकर विवाद है। वह किसे मिले, इसका फैसला आप कर दें। आपका जो भी निर्णय होगा, वह हम दोनों को स्वीकार होगा।

मुनीमजी ने कहा—वह दर्पण तुम्हारे पिताजी के निर्देश से मैं ही खरीद कर लाया था। उसे तुम्हारे पिताजी ने जीवन भर संभाल कर रखा। कहां है वह दर्पण?

दोनों भाइयों ने कहा—पिताजी के कमरे में है।

मुनीमजी उस कमरे में गए, जहां वह बड़े आकार वाला दर्पण दीवार में

फिट था। मुनीम जी ने उसे उतार कर हाथ में लिया, आंगन में आए और उस दर्पण को दोनों हाथों से ऊंचा उठाकर फर्श पर पटक दिया, कांच की किरचें बिखर गईं। दोनों भाई हतप्रभ रह गए। बोले—आपने यह क्या किया?

मुनीमजी ने कहा—तुम दोनों भाइयों में फूट हो, इसकी अपेक्षा इस दर्पण का फूट जाना ज्यादा अच्छा है। मैंने इस परिवार को हमेशा अपना ही माना है। मैं कांच की फूट तो देख सकता हूं, पर तुम दोनों भाइयों के बीच की फूट नहीं देख सकता, इसलिए दोनों के बीच में फूट का जो निमित्त था, मैंने उसे ही समाप्त कर दिया।

आत्मा की दृष्टि से देखें तो कषाय का प्रयोग आत्मा के कर्मों का बंध कराने वाला है और सामाजिक दृष्टि से देखें तो परस्पर के संबंधों को तोड़ने वाला, जीवन में अशान्ति पैदा करने वाला है। वे परिवार अच्छे और महत्त्वपूर्ण होते हैं, जिन परिवारों में कलह जैसी स्थिति नहीं होती, परिवार के सभी सदस्य शान्ति से रहते हैं और अपने से बड़ों को सम्मान देते हैं। यह परिवार के लिए सुन्दर बात है। किसी-किसी परिवार में ऐसा देखने-सुनने को मिल सकता है कि परिवार के मुखिया ने या मां ने जो कह दिया, वह सबको मान्य होता है। कुछ परिवारों में ऐसी मर्यादा देखने को मिल सकती है, जहां एक को महत्व दिया जाता है यानी परिवार के सभी सदस्य उसकी बात को महत्व देते हैं। व्यक्ति की बात को महत्व भी तभी मिलेगा, जब वह सबके भले के लिए निःस्वार्थ भाव से चिन्तन करेगा। वह परिवार के किसी एक-दो सदस्य का पक्ष लेना शुरू करेगा तो अन्य सदस्यों में उसके प्रति सम्मान की भावना का होना कठिन होगा। पारिवारिक संबंध कलहविहीन हों, शान्तिपूर्ण हों, ऐसा प्रयास होना चाहिए।

कभी-कभी साधुओं में भी तनाव पैदा हो सकता है। साधुओं के लिए आगम वाङ्मय में संदेश दिया गया है कि साधु को तो विशेष रूप से कलह का विवर्जन करना चाहिए। उदारता हो तो कलह को उत्पन्न होने से रोका जा सकता है। छोटी-मोटी बातों को लेकर संकीर्णता नहीं आनी चाहिए। इससे साधना में अवरोध पैदा हो सकता है। साधु की वृत्ति उदार, सहिष्णु और सेवाभाव से युक्त होनी चाहिए। उसका चिन्तन होना चाहिए कि मैं दूसरों से

ज्यादा सेवा न लेकर जितना हो सके, अपना काम स्वयं करूं,स्वावलंबी जीवन जीऊं। मेरा शरीर सक्षम है, समय है और अनुकूलता है तो मैं दूसरे से सेवा क्यों लूं ? कोई वृद्ध हो, अक्षम हो, वह सेवा लेने की बात सोचे तो न्याय की बात है। कोई ऊंचे पद पर आसीन हो, वह सेवा ले तो यह भी न्याय की बात है। शेष जो सामान्य व्यक्ति हैं, जिनके पास समय है, कार्य करने में सक्षम हैं, उनको तो यथासंभव अपना काम स्वयं करना चाहिए। ज्यादा से ज्यादा सेवा देने और कम से कम सेवा लेने का प्रयास करना चाहिए। ऐसी भावना समूह के सदस्यों में होती है तो वहां कलह को पनपने से दूर रखा जा सकता है, क्योंकि सेवा की भावना कलह का प्रतिपक्ष है। जहां सेवा और सहिष्णुता की भावना होगी, वहां कलह को आने के लिए सौ बार सोचना पड़ेगा कि वहां जाऊं या नहीं ?

साधु संस्था में एक-दूसरे का सहयोग किया जाता है। गृहस्थों में भी एक-दूसरे के सहयोग से ही काम चलता है। एक परिवार में कोई कमाता है, कोई बाहर से जरूरी चीजें खरीद कर लाता है, कोई रसोई बनाता है। इससे परिवार का काम सुचारु रूप से चलता है। अगर कार्य विभाजन न हो, सब एक दूसरे के काम में हस्तक्षेप करें, अपनी-अपनी चलाएं, मनमानी करें तो परिवार का चलना कठिन हो जाए। यह सेवा, सहिष्णुता और सामंजस्य की भावना साधु संस्था और गृहस्थ समाज के लिए भी महत्वपूर्ण है। सेवा और सहयोग की भावना एक-दूसरे को निकट लाने वाली होती है, परस्पर के संबंधों को मजबूत करने वाली होती है। अगर सेवा से जी चुराया जाता है तो संबंधों में दुराव पैदा हो सकता है। कलह को उत्पन्न होने से रोकने के लिए स्वार्थ से दूर रहना, सेवा-सहयोग का भाव रखना अपेक्षित है। कलह के कारणों को निवारित करें तो कलहमुक्ति की बात निष्पन्न हो सकेगी।

१३. अभ्याख्यान पाप

आर्हत वाङ्मय में 'अब्भक्खाण' शब्द आता है। अठारह पापों में तेरहवां पाप है—अभ्याख्यान पाप। आचार्य हेमचन्द्र ने इसका अर्थ किया है—**मिथ्याभियोगोऽभ्याख्यानं** अर्थात् झूठा अभियोग लगाना, झूठा आरोप लगाना अभ्याख्यान होता है। वास्तव में गलती हो, दोष हो तो भी बात को फैलाना नहीं चाहिए, किसी को बदनाम करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। गलती है ही नहीं और ऐसे ही किसी निर्दोष आदमी को दोषारोपित कर देना और झूठा दोष फैला देना बड़ा पाप होता है। दुर्जन आदमी ही ऐसा काम कर सकता है। सज्जन आदमी तो दोष का पता चल जाए तो भी उसे फैलाने का या उस आदमी को बदनाम करने का प्रयास नहीं करता।

आदमी से गलतियां हो सकती हैं। सामान्य मनुष्यों में कितने मिलेंगे जो कभी गलती नहीं करते। कौन आदमी दावे के साथ कह सकता है कि मैं कभी गलती करता ही नहीं। दूध के धोए तो कितने लोग मिलेंगे। परन्तु आदमी का यह लक्ष्य बनें कि गलती हो जाए तो उसका पुनरावर्तन न करूं। जो मैंने पूर्व में अपनी दुर्बलता से, प्रमाद से कर लिया वह आचरण दोबारा नहीं करूंगा। भगवान महावीर ने जब अभिनिष्क्रमण किया तब अभिग्रह किया कि अब सारे पाप कर्म मेरे लिए अकरणीय रहेंगे। यद्यपि चलने वाला आदमी कभी गिर भी सकता है। छोटा बच्चा जब चलने का अभ्यास करता है तो कई बार गिर सकता है। कभी बड़ा व्यक्ति भी गिर सकता है। पर कोई गिर जाए या गिरने लगे, तब उसको कोई संभाल ले तो वह सेवा होती है। गिरते हुए को हाथ का सहारा देकर बचा लेना, उसकी रक्षा करना, किसी की मौके पर सहायता कर देना सज्जनता होती है। हमारा जीवन काफी अंशों में सहायता पर अवलम्बित है। हमारा एक-दूसरे के सहयोग से काम चलता है। शरीर से गिरना एक बात

है। वहां भी सहयोग की बात होती है पर जो चारित्र से गिरने लग जाए, श्रद्धा से गिरने लग जाए, ऐसे व्यक्ति को सहारा देना बहुत बड़ी सेवा होती है। कोई साधु है और साधुता से मन कमजोर हो गया, घर जाने की इच्छा हो गई। ऐसे शिथिलमना साधु-साध्वी को जो स्थिर कर दे, उसे आलम्बन दे, वह कितनी बड़ी सेवा होती है। एक मौका आता है, उस मौके पर ध्यान दिया जाए तो किसी को बचाया भी जा सकता है और मौका चूक जाए तो आदमी पतन की ओर भी जा सकता है।

परम पूज्य गुरुदेव तुलसी के आचार्य काल में अनेक संत संघ से बाहर जाने के इच्छुक बने होंगे। कितने तो चले भी गए और कई रह भी गए अथवा कई बाहर जाकर वापिस भी आ गए। अनेक कारणों से साधु संघ-त्याग कर सकता है। कोई सिद्धांत के आधार पर, कोई शिथिलाचार के आधार पर और कोई आकांक्षा पूर्ति न होने के आधार पर। सिद्धांतों के आधार पर अलग होना एक उत्तम कोटि की बात होती है। शिथिलता के कारण, गलतियों के कारण या आकांक्षा-पूर्ति न होने के कारण अलग होना हल्की बात होती है। जो शिथिलता के कारण या आकांक्षा-अपूर्ति के कारण गण से अलग होने का इच्छुक बन जाए, उसमें साहस भरा जाए, मनोबल भरा जाए और निष्ठा भरी जाए तो वह गिरते-गिरते बच भी सकता है। आपने कभी पढ़ा या सुना होगा कि अमुक व्यक्ति बाल-बाल बच गया। गिरते-गिरते एक ऐसा सहारा मिला कि वह बच गया। गिरने की स्थिति में आने वाले को संभालना अथवा किसी के जीवन को अच्छा बना देना बड़ी सेवा होती है। छोटी-मोटी गलती होते ही वध कर दो, यह निश्चित नीति बन जाए तो संसार में बहुत कम आदमी ही बचेंगे, क्योंकि आदमी तो बहुत दोष वाले ही होते हैं। इसलिए परिष्कार का अवसर भी दिया जाना चाहिए। ऑपरेशन तो अंतिम बात है। टेबलेट लेने से अगर रोग दूर होता है तो पहले ऑपरेशन की बात क्यों सोचें। दवा से ठीक न हो तो ऑपरेशन की बात सोचनी चाहिए। इसी तरह समाज में, संस्था में कोई गलतियां करे तो उसे सुधरने का मौका भी दिया जाना चाहिए। जब यह लगे कि कोई सुधार की गुंजाईश ही नहीं है तो फिर पृथक्करण की बात सामने आती है। गलतियां करने पर कोई कहे कि इसने गलती की है तो वह तो सही

बात है, किन्तु जिसने गलती की ही नहीं फिर भी कहे कि इसने गलती की है यह अभ्याख्यान हो जाता है। बिना गलती किसी पर गलती का आरोप लगाना एक बड़ा पाप होता है। सीताजी पर भी आरोप आ गया था। पर सीताजी ने तो स्वयं को सही प्रमाणित कर दिया। जब अग्नि-परीक्षा की स्थिति सामने आई तब सीताजी ने कहा—हे अग्नि देवते! मैंने अपनी जिंदगी में मन में, वचन में, काया में सोते या जागते अगर एक रामचन्द्रजी के सिवाय अन्य किसी भी पुरुष के प्रति कोई विकृत भाव आया हो तो मेरे इस शरीर को तुम जला डालो। पर अग्नि उसे जला नहीं सकी। सीता का सतीत्व निखर कर सामने आ गया।

महासती सुभद्रा के साथ भी ऐसा ही हुआ था। बसन्तपुर के महाराजा का नाम जितशत्रु था। उनके मंत्री जिनदास की पुत्री का नाम सुभद्रा था। वह बचपन से ही धार्मिक संस्कारों में पली-पुसी और बड़ी हुई। यौवन की दहलीज पर पहुंचते ही योग्य वर की खोज की जाने लगी। अन्य योग्यताओं के साथ वर का जैनधर्मी होना अत्यावश्यक था। विधर्मी को अपनी पुत्री देने के लिए जिनदास किसी भी मूल्य पर तैयार नहीं था। चंपानगर निवासी बुद्धदास सुभद्रा को पाने के लिए आतुर हो उठा, किन्तु वह तो बौद्धधर्मी था। उसने एक उपाय खोजा। ऊपरी आचार-व्यवहार से वह स्वयं को एक सुसंस्कारी जैन श्रावक के रूप में प्रदर्शित करने लगा। जिनदास उसके नकलीपन को नहीं समझ सका और उसके साथ सुभद्रा का विवाह कर दिया। ससुराल जाने के बाद सुभद्रा को पता चल गया कि यह परिवार बौद्ध-धर्मावलम्बी है। धार्मिक भिन्नता के कारण संबंधों में कटुता आने लगी। सास और ननद सुभद्रा को नीचा दिखाने के लिए षडयन्त्र रचने लगी। एक दिन घर में जैन मुनि पधारे। सुभद्रा ने भक्तिभाव के साथ भिक्षा दी। जब वे वापस जाने लगे तब सुभद्रा ने देखा कि उनकी एक आंख से पानी बह रहा है। वह समझ गई कि मुनिश्री की आंख में कोई तृण आदि है, किन्तु ये तो जिनकल्पी मुनि हैं। इसलिए शरीर की सार-संभाल नहीं कर रहे हैं। उसने तत्काल अपनी जीभ से मुनि की आंख में पड़ा हुआ तृण निकाल दिया। संयोगवश सुभद्रा के ललाट पर लगी हुई बिन्दी मुनिश्री के मस्तक पर लग गई। सास और ननद ने पहले तो सुभद्रा को बहुत बुरा भला

कहा। फिर नगर में यह बात फैला दी कि सुभद्रा ने आज मुनि के साथ अकृत्य किया है। यह कलंक अकेली सुभद्रा पर ही नहीं था, जैनधर्म और जिनकल्पी मुनि पर भी था। उसे बहुत दुःख हुआ, किन्तु वहां उसकी सुनने वाला भी कौन था। उसने संकल्प कर लिया कि जब तक मेरा कलंक नहीं उतरेगा, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगी। तीन दिन बीत गए। चौथे दिन सुबह लोगों ने देखा कि नगर के चारों दरवाजे बन्द हैं। द्वार-रक्षकों के द्वारा बहुत प्रयत्न करने पर भी द्वार नहीं खुले। राजा ने मदोन्मत्त हाथियों द्वारा द्वार तुड़वाने का आदेश दे दिया, किन्तु वह भी बेकार गया। आवागमन बन्द होने से लोग शोकाकुल हो गए। उसी समय आकाशवाणी हुई—कोई सती कच्चे धागे से चलनी बांधकर कुएं से पानी निकाले और उस जल से दरवाजे पर छींटे लगाए तो द्वार खुल सकते हैं। राजा ने तत्काल पूरे नगर में यह घोषणा करवा दी कि कोई भी सती आगे आकर नागरिकों का यह संकट मिटाए। जो इस संकट को मिटाएगी, राजा उसे राजकीय सम्मान देगा। यह घोषणा सुनते ही कुएं पर स्त्रियों का जमघट-सा लग गया, किन्तु जल निकालने में कोई सफल नहीं हो सकी। अन्त में सुभद्रा वहां पहुंची। उसने कच्चे धागे से चलनी को बांधा और कुएं में डाली। चलनी में पानी निकालकर उसने नगर के तीन दरवाजों पर छींटे लगाए। तत्काल तीनों दरवाजे खुल गए। चौथा दरवाजा खोलने से उसने इनकार कर दिया। उसने कहा—भविष्य में यदि मेरी तरह किसी पतिव्रता पर कोई कलंक लग जाए तो वह इस द्वार को खोलकर अपने सतीत्व की परीक्षा देकर संकट मुक्त हो सकेगी। द्वार खुलते ही नागरिकों में उल्लास छा गया। सभी ने सुभद्रा के शील की प्रशंसा की।

आदमी को इस तरह के अभ्याख्यान पाप से बचाना चाहिए। आदमी को जिन्दगी में किसी पर भी झूठा आरोप नहीं लगाना चाहिए। बात की तहकीकात करे कि क्या बात है। बिना जानकारी किए, बिना छानबीन किए, जल्दबाजी में और दुर्भावना से किसी पर झूठा आरोप नहीं लगाना चाहिए। वह एक बड़ा पाप का काम होता है। अठारह पापों में सारे पापों से पूर्णतया बचना गृहस्थ के लिए कठिन हो सकता है। किन्तु अभ्याख्यान जैसे पाप से तो आराम से बचा जा

सकता है। किसी पर झूठा आरोप लगाने से कर्मों का बन्ध हो जाता है। बाद में किसी जन्म में वे कर्म भोगने पड़ते हैं। कभी स्वयं को भी बिना गलती के बदनाम होना पड़ सकता है। इसलिए साधु को तो विशेष सावधान रहना ही चाहिए, परन्तु गृहस्थों को भी सावधान रहना चाहिए और इस अभ्याख्यान पाप से बचना चाहिए।

१४. पैशुन्य पाप

आर्हत वाङ्मय में पैशुन्य को पाप बताया गया है। जिसका अर्थ चुगली खाना, परोक्ष में दूसरों की बुराई करना, निंदा करना है। संस्कृत कोश में आचार्य हेमचन्द्र ने बताया है—**पृष्ठमांसादनं तद्यत् परोक्षे दोषकीर्तनम्** अर्थात् इसका तात्पर्य है पीठ पीछे किसी की निंदा करना, बुराई करना, चुगली खाना। इस दुर्वृत्ति से हमें बचना चाहिए। कोई बात हो तो उस आदमी को ही बता दें कि तुम्हारी यह गलती हमारे ध्यान में आई है। यदि गलती है तो तुम उस पर ध्यान देना, उसे ठीक कर लेना। यदि तुम्हारी गलती नहीं है, हमारी गलतफहमी है तो हम अपनी धारणा को ठीक कर लें। सामने नहीं कहना, मूल व्यक्ति को नहीं बताना और परोक्ष में निंदा करते रहना, किसी को आपस में भिड़ा देना, किसी के बारे में गलत धारणा बना लेना, यह पापकर्म है। निंदा करना तो बड़ा आसान काम है। लेकिन यह आसान काम इतने पाप कर्मों का बंध करा देता है कि उदय में आने पर उस व्यक्ति के लिए बड़ी कठिनाई हो जाती है।

राजा के दरबार में एक ब्राह्मण का आना-जाना था। राजा उसे सम्मान देता और उसकी बात को ध्यान से सुनता। राजपुरोहित के मन में उस ब्राह्मण के प्रति ईर्ष्या पैदा हो गई। एक आशंका उसके मन में समा गई कि कहीं यह ब्राह्मण राजा को प्रभावित कर राजपुरोहित का पद न ले ले। असुरक्षा की भावना ने पुरोहित के मन में हलचल पैदा कर दी। उसने मन ही मन विचार किया कि जैसे भी हो, इस ब्राह्मण के प्रति राजा के मन में अन्यथा भाव पैदा किया जाए। कुछ ऐसा किया जाए, जिससे राजा के मन में इसके प्रति घृणा उत्पन्न हो जाए। ऐसा सोचकर पुरोहित ने एक षडयंत्र रचा।

एक दिन राजपुरोहित राजदरबार में रोज आने वाले उस ब्राह्मण से मिला

और उसके प्रति सद्भावना व्यक्त करते हुए कहा—आप भाग्यशाली हैं। महाराज की आप पर पूरी कृपा है। दरबार में आपको यथोचित सम्मान मिलता है। लेकिन शुभेच्छु होने के नाते एक परामर्श आपको देना चाहूंगा कि राजाओं के मिजाज का कुछ पता नहीं चलता। वे कब रुष्ट हो जाएं, कब तुष्ट हो जाएं। कभी-कभी तो मामूली-सी बात पर भी उनका कोपभाजन बनना पड़ जाता है। आप जब भी राजा के निकट हों और उनसे बातचीत का प्रसंग आए, आप खुले मुंह उनसे बात न करें, क्योंकि बातचीत करते समय मुंह से निकला थूक का एक छोटा-सा छींटा भी राजा को रुष्ट कर सकता है। उस समय मुंह पर कोई कपड़ा जरूर बांधें।

ब्राह्मण ने राजपुरोहित को अपना हितैषी मानते हुए उसके परामर्श को स्वीकार कर लिया। इधर राजपुरोहित राजा के कान भरने की जुगत भिड़ाने लगा। अवसर पाकर उसने राजा से कहा—इधर कई दिनों से देख रहा हूं कि एक व्यक्ति जो स्वयं को ब्राह्मण कहता है, आपके पास आता है। आपकी निकटता भी उसने प्राप्त कर ली है। लेकिन शायद आप नहीं जानते कि ब्राह्मणत्व का उसमें अंश भी नहीं है। वह पक्का मद्यपी है। कभी-कभी तो शराब पीकर दरबार में आ जाता है। ऐसे लोगों को मुंह लगाना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं। दरबार की छवि उससे प्रभावित होती है।

राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। राजा ने पूछा—शराबी तो वह व्यक्ति नहीं लगता, लेकिन आप कह रहे हैं तो पूरी जानकारी के बाद ही कह रहे होंगे। वह मद्यपी है, इसका कोई प्रमाण है?

कुटिल और ईर्ष्यालु राजपुरोहित तो पूरी योजना बनाकर राजा के पास आया था। उसने कहा—महाराज ! प्रमाण यह है कि जब भी उसने शराब पी होगी, वह खुले मुंह आपसे बात नहीं करेगा। उस समय वह अपना मुंह कपड़े से ढक कर बात करेगा। राजा ने कहा—यह तो तुमने नई जानकारी दी है। मैं शीघ्र ही सत्यता की जांच करूंगा।

दूसरे दिन दरबार में वह ब्राह्मण उपस्थित हुआ। राजा के निकट आकर बातचीत करने का प्रसंग आया तो उसने अपने मुंह पर वस्त्र रख लिया। राजा

को पुरोहित की बात पर विश्वास हो गया। अब तक उसे सम्मान देते आ रहे राजा के मन में उस ब्राह्मण के प्रति घोर नाराजगी पैदा हो गई। धर्म-कर्म से च्युत इस ब्राह्मण का इतना साहस कि इसने मुझे छलने का प्रयास किया। राजा ने उसे उसी क्षण दण्डित करने का निर्णय कर लिया। ब्राह्मण से कहा—विप्रजी! बहुत दिनों से दरबार में आ रहे हो, आज मैं आपकी गरीबी हमेशा के लिए दूर कर देता हूं। इतना कहकर राजा ने अपने हाथ से राजकीय कोषागार के प्रभारी के नाम एक रुक्का लिखा—

रुपया दीज्यो पांच सौ, मत दीज्यो सुल्लाख।
घर में आगो घालनै, काटी दीज्यो नाक।।

राजा ने पत्र लिफाफे में बन्द कर ब्राह्मण को दे दिया। राजपुरोहित दूर से सब कुछ अपनी आंखों से देख रहा था। राजा को रुक्का देते देख उसके मन में आशंका हुई।

ब्राह्मण ने आज अपना भाग्योदय समझा और प्रसन्न मन से राजकीय कोषागार की ओर चल पड़ा। मार्ग में उसे कुटिल राजपुरोहित मिला। पूछने पर ब्राह्मण ने पूरा वृत्तान्त सुनाया और कहा—महाराज ने आज कृपा की है। राजकोष के प्रभारी के पास यह पत्र देकर भेजा है तो पुरस्कार मिलना ही है। राजपुरोहित को अपना दांव उल्टा पड़ता दिखाई दिया। कहां तो दंडित कराने की बात सोची थी, यहां तो पुरस्कार मिल रहा है। पुरोहित सहज ही हार मानने वाला नहीं था। उसने फिर चाल चली और कहा—अभी शायद तुम राजकीय नियमों से अनभिज्ञ हो। यह रुक्का सीधा भण्डारी के पास नहीं जाएगा। पहले इस पर राजकीय मुहर लगेगी, तब इस पर कार्यवाही होगी। यह रुक्का मुझे दो, मैं अभी मुहर लगवा कर लाता हूं। सरल हृदय ब्राह्मण राजपुरोहित के कपट को समझ नहीं सका और उसे रुक्का दे दिया। रुक्का लेकर राजपुरोहित सीधा कोषागार के प्रभारी के पास गया, उसे रुक्का थमा कर कहा—राजाज्ञा की तुरंत पालना की जाए। भण्डारी ने रुक्का पढ़ा। उसमे लिखी गई पांच सौ रुपये देने की बात तो समझ में आ गई, लेकिन नाक काट लेने की बात ने उसे उलझन में डाल दिया। फिर भी आज्ञा तो आज्ञा थी। प्रभारी का काम आज्ञा पालन करना था। उसने रुक्के में लिखे निर्देश के अनुसार पांच सौ रुपये दे दिए और कटार

हाथ में लेकर राजपुरोहित की गरदन पकड़ ली। पुरोहित घबराकर बोला—भंडारीजी, यह क्या कर रहे हो? भंडारी ने कहा—वही कर रहा हूं जो राजा ने रुक्के में लिखा है। इतना कहकर भण्डारी ने राजपुरोहित की नाक काट ली। राजपुरोहित को सारी बात समझ में आ गई, लेकिन अब क्या हो सकता था।

राजपुरोहित द्वारा छला गया ब्राह्मण निराश होकर पुनः राजा के पास गया। राजा को उसे नाक सहित सही सलामत देख आश्चर्य हुआ। राजा ने पूछा—आप मेरा वह रुक्का लेकर भण्डारी के पास नहीं गए क्या ? ब्राह्मण ने कहा—वहां पहुंचने से पूर्व ही राजपुरोहितजी ने वह रुक्का मुझसे ले लिया और उसके बाद वे मुझे मिले ही नहीं। तभी पुरोहितजी नाक पर पट्टी बांधे दरबार में राजा के समक्ष उपस्थित हुए। सारी बात राजा की समझ में आ गई। राजपुरोहित का षडयंत्र उद्घाटित हो गया। उसे अपने किए की सजा मिल गई और उसका पद उस ब्राह्मण को मिल गया।

जो दूसरों का अहित करता है, मानो वह अपने अहित की पृष्ठभूमि तैयार करता है। बुराई का दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। दूसरों का अहित करने की भावना स्वयं अपना बहुत बड़ा नुकसान करा देती है। कर्मों का फल भोगने में देर तो हो सकती है, किन्तु कर्म के साम्राज्य में अन्धेर नहीं है। कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।

दुनिया में अच्छे लोगों की कमी नहीं है, तो बुरे लोगों की भी कमी नहीं है। परदोषदर्शन जिनकी प्रवृत्ति है, स्वभाव है, दूसरों के बनते काम को बिगाड़ने में जिन्हें रस आता है, अच्छे और नेक काम में जिन्हें कोई दिलचस्पी नहीं, दो लोगों में परस्पर अविश्वास पैदा कर उन्हें आपस में भिड़ा देने को जो अपनी बड़ी कामयाबी मानते हैं, वे नहीं जानते कि कितने पापों का वे बंध कर रहे हैं।

किसी दार्शनिक से पूछा गया—इस दुनिया में सबसे आसान काम क्या है? दार्शनिक ने नपे-तुले शब्दों में उत्तर दिया—पीठ पीछे किसी की निंदा, आलोचना करना। सामने कुछ कहने में संकोच होता है, कुछ विचार कर बोलना पड़ता है, लेकिन सामने वाले की अनुपस्थिति में कई बार आदमी बेलगाम होकर बोल लेता है। पीठ पीछे तो लोग न प्रधानमंत्री को छोड़ते हैं, न

राष्ट्रपति को, न किसी बड़े महापुरुष को। किसी की भी निंदा-आलोचना हो जाती है। लोग सामने तो गले मिलते हैं और पीछे से उनकी बुराई करते हैं। आदमी में यह साहस होना चाहिए कि जो कहना है, वह सामने कहूंगा, उसी को कहूंगा,जिससे संबंधित बात है, सही बात कहूंगा और हित के लिए कहूंगा। मात्र अपनी प्रवृत्ति और आदत के कारण किसी की निंदा, चुगली करना पृष्ठमांसादन है, पैशुन्य है। इससे व्यक्ति को बचने का प्रयास करना चाहिए।

व्यक्ति आत्मावलोकन करे कि अठारह पापों में से कौनसा पाप मैंने ज्यादा मात्रा में किया है और उसे कम कैसे किया जाए ? पाप जितने कम होंगे, हमारी आत्मा उतनी ही निर्मल बनेगी। आदमी पवित्र कार्य न कर सके तो कम से कम पापों से तो बचे। कहा गया है–

तुम पुण्य कार्य मत करो भले ही,
किन्तु करो मत पाप,
पुण्य के फल को पा लोगे।
मत रटो राम का नाम भले ही,
किन्तु करो सत्काम,
राम के बल को पा लोगे।।

आदमी हंसते-हंसते पाप तो कर लेता है, किन्तु जब उसका विपाक होता है तो आंसू बहाने पर भी उनसे छुटकारा नहीं मिलता है। बाद में रोना-पछताना पड़े, इसकी अपेक्षा यह कहीं ज्यादा ठीक है कि वैसे काम से बचा जाए। इसके लिए संयम का अभ्यास आवश्यक है। संत जन उपदेश देते हैं, उनके प्रति लोगों में आकर्षण भी होता है। मैंने अनुभव किया है कि भारतीय जनमानस में साधु-संतों के प्रति श्रद्धा की भावना है। यह भी एक शुभ संकेत है।

उपदेश जीवन में भले ही कार्य रूप में परिणत न हो सके, किन्तु उपदेश सुनने की भावना भी अच्छी बात है। उपदेश की सौ बातें सुनी जाएंगी तो उसमें से दो-चार बातें जीवन में हृदयंगम भी हो सकती हैं, उतर भी सकती हैं। एक गृहस्थ परिस्थितिवश कभी झूठ भी बोल देता है, धोखा और छल भी कर सकता है। किन्तु उपदेश का श्रवण करने के बाद कई बार उसका मन कुछ-कुछ

भीगता है, उसे अपने किए पर अनुताप होता है और भविष्य में वैसे काम न करने का वह इरादा भी कर लेता है। इस प्रकार संत-महात्माओं की वाणी भी व्यक्ति-सुधार में बहुत सहयोगी बनती है।

अगर किसी के मन में यह बात है कि संतों की संगत से, उनके उपदेश से कोई फर्क नहीं पड़ता, उससे कोई लाभ नहीं होता, तो भी एक घंटा, दो घंटा उनके समीप बैठना अच्छी बात है। क्योंकि कम से कम उतने समय तक तो पापों से बचाव हो जाएगा। सत्संग का वह घंटे, दो घंटे का समय निंदा, चुगली, चोरी, छल-कपट और दूसरे पापकारी कृत्यों से व्यक्ति को विरत कर देता है। चौबीस घंटों में दो घंटे का समय भी अगर शुभ योग में बीते तो इसे एक उपलब्धि मानना चाहिए। संत तुलसीदासजी ने दो बातों को दुर्लभ बताते हुए कहा है—

सुत दारा अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय।
संतसमागम हरि कथा, तुलसी दुर्लभ दोय।।

पत्नी, पुत्र और पैसे की प्राप्ति तो एक पापी को भी हो सकती है, किन्तु सत्संग और धर्मकथा-श्रवण का अवसर दुर्लभ होता है। सत्संग और धर्मकथा का अवसर जहां, जब भी मिले, उसका लाभ उठाना चाहिए। जीवन में सदुपदेश का थोड़ा-सा अंश भी उतरना शुरू हो गया तो जीवन में सत् परिवर्तन आ सकता है और पापों से बचाव हो सकता है।

१५. परपरिवाद पाप

आर्हत वाङ्मय में कहा गया है—**समो निंदापसंसासु** अर्थात् निंदा और प्रशंसा में सम रहना। साधक को समता की साधना करनी चाहिए। कोई निंदा करे तो भी सम रहे और प्रशंसा करे तो भी सम रहे। द्वेषयुक्त परनिंदा से बचना चाहिए। बातें करनी हैं तो कोई अच्छी और सार्थक बात करें, ज्ञान की बात करें, तात्विक चर्चा करें। इधर-उधर की फालतू बातें करने से समय का अपव्यय तो होता ही है, कर्मों का बंध भी होता है।

अठारह पापों में पन्द्रहवां पाप है—परपरिवाद अर्थात् दूसरों की निन्दा करना। जो दोष दूसरों में है ही नहीं, उसका मिथ्या आरोपण करना। आचार्य भिक्षु ने लिखा है—

जो साची ने साची कहें, तेतो निंदा म जाणों कोय।
साची ने साची कहणी निसंक सूं, ते पिण अवसर जोय।।

सच्ची बात को सच्ची कहना निन्दा नहीं है। किन्तु सच्ची बात को भी अवसर देखकर ही कहना चाहिए। बिना अवसर सच्ची बात भी नहीं कहनी चाहिए, बल्कि उस समय मौन रह जाना चाहिए। साधु का तो धर्म है कि वह सहन करे। कोई निन्दा करे और गाली दे तो भी सहन करे और आत्मस्थ बना रहे। गाली देने वाला निम्न आदमी होता है। उस बेचारे के पास बढ़िया और मधुर शब्द हैं ही नहीं तो वह लाएगा कहां से ? परम श्रद्धेय गुरुदेव तुलसी ने अपने गीत में कहा है—

गाळीवान कठै स्यूं ल्यासी मांग मधुर वच प्यारो।

गाली देने वाला मीठा वचन कहां से मांग कर लाएगा ? आत्मा निष्कलुष और शुद्ध भावों से भावित है तो वाणी में मधुरता अपने आप आएगी। आत्मा

कलुषित है तो उसका प्रभाव वाणी पर भी होगा। किसी के कटु वचन पर प्रतिक्रिया नहीं करनी चाहिए।

सामने वाला गुस्सा कर रहा है। उसके सामने कोई प्रतिकार मत करो, शान्त भाव से खड़े रहो तो उसका गुस्सा जल्दी शान्त हो सकता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—**अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति।**

जहां तृण या घास-फूस नहीं है, वहां कोई आग डाले तो वह निष्प्रभावी रहेगी। वहां तृण आदि होगा तभी आग प्रज्ज्वलित हो सकेगी। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी के जीवन में भी विरोध के अनेक अवसर आए। जो व्यक्ति विरोध को विनोद मानकर चलता है, उसे आवेश, आक्रोश और गुस्सा नहीं आता अथवा बहुत कम आता है। आदमी के जीवन में निंदा-आलोचना और विरोध की स्थिति आए तो उसे सहन करना चाहिए। ऐसा करने से पाप कर्म से बचाव हो जाता है।

दूसरों का दोष देखने से पहले स्वयं को भी आत्मावलोकन करना चाहिए। स्वयं के दोषों और कमजोरियों पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। हम अपनी तर्जनी अंगुली किसी की ओर उठाते हैं तो उसके साथ की तीन अंगुलियां हमारी ओर हो जाती हैं कि पहले अपने को देखो। किसी को बदनाम करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। उस समय मन में यह विचार आना चाहिए कि परनिंदा से मुझे मिलेगा क्या ? कोई तथ्य बताना हो तो एक अलग बात है। किन्तु बदनाम करने की भावना से, स्वयं को तुष्ट करने के लिए किसी के बारे में परिवाद करना तुच्छता है। दसवेआलियं में एक कथा आती है—

एक व्यक्ति परस्त्री के साथ मैथुन सेवन कर रहा था। किसी साधु ने उसे देख लिया। वह लज्जित हुआ और सोचने लगा कि साधु दूसरों से मेरे कृत्य के बारे में कह देगा, इसलिए मैं क्यों न उसे मार डालूं? उसने आगे जाकर मार्ग रोका और मौका देखकर साधु से पूछा—आज तुमने मार्ग में क्या देखा?

साधु ने कहा—

बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ।।

भिक्षु कानों से बहुत कुछ सुनता है और आंखों से बहुत कुछ देखता है, किन्तु सब देखे और सुने हुए को कहना भिक्षु के लिए उचित नहीं होता।

युवक को विश्वास हो गया कि यह वास्तव में साधु है और मेरे कृत्य को प्रचारित कर मुझे बदनाम नहीं करेगा। साधु को छोड़कर वह अपने गंतव्य की ओर चला गया। साधु तो अच्छे-बुरे को मात्र ज्ञाता-द्रष्टाभाव से देखता है। वह किसी की निन्दा और चुगली नहीं करता।

परमपूज्य महामना आचार्य भिक्षु एक विशिष्ट कोटि के संत थे। उनके पास एक बार एक जैन साधु आया। एकान्त में उसने कुछ बात की और चला गया। उसके जाने के बाद मुनि हेमराजजी ने आचार्य भिक्षु से पूछा—गुरुदेव! वह साधु क्यों आया था और उसने आपसे क्या बात की?

आचार्य भिक्षु ने कहा—वह अपने दोष की आलोचना करने आया था।

शिष्य हेमराजजी ने पुनः पूछा—गुरुदेव! उसने किस तरह के दोष का सेवन किया था?

आचार्य भिक्षु ने कहा—यह बताना मुझे कल्पता नहीं।

किसी की गुप्त बात को, किसी की त्रुटि या गलती को फैलाना, प्रचारित करना सज्जनता नहीं होती। परदोष दर्शन और उसे प्रचारित करने की वृत्ति चाहे साधु में हो या गृहस्थ में, भगवत्ता की प्राप्ति में एक बाधा है।

हमें परपरिवाद से बचने का प्रयास करना चाहिए। हमारे मुंह से कोई भी व्यर्थ शब्द नहीं निकलना चाहिए। शब्दों का भी अपना प्रभाव होता है। शब्दों को सुनकर एक आदमी क्रोधावेशित हो जाता है और दूसरा शान्त हो जाता है।

एक संन्यासी के पास एक लड़का गया। संन्यासी ने उस लड़के को भगवान का नाम लेने और माला फेरने की सत्प्रेरणा दी। लड़का पढ़ा-लिखा आधुनिक सोच का था। उसने लापरवाही से कहा—बाबा! मंत्र शब्दों का समूह

ही तो है और भगवान का नाम भी तो शब्द ही है। क्या रखा है कोरे शब्दोच्चार में?

बाबा को उसे शिक्षा देनी थी। उन्होंने तुरन्त अपनी भावभंगिमा बदल ली और उसे कड़े शब्द कहे। बाबा की बात सुनकर लड़का तैश में आ गया। वह बाबा को बहुत बुरा-भला कहने लगा।

संन्यासी ने मृदु मुस्कान के साथ नम्र स्वर में कहा—देखा शब्दों का चमत्कार ? मैंने कुछ शब्दों का प्रयोग किया और तुम आगबबूला हो गए। शब्दों में आग लगाने की भी क्षमता है और आग बुझाने की भी क्षमता है। शब्द से ज्यादा शब्द का अर्थ प्रभावी होता है। आप किसी शब्द का अर्थ नहीं जानते तो भले ही वह गाली हो, आप पर उसका कोई असर नहीं होगा। जो संस्कृत और अंग्रेजी नहीं जानता, उसे संस्कृत और अंग्रेजी में गालियां दो तो उस पर कितना असर होगा ? माला आदि में पवित्र शब्द और पवित्र भावना निहित होती है, जो आत्मशुद्धि का हेतु बन जाती है। इसी तरह निन्दा में जो कठोर और रुक्ष अर्थ वाले शब्द होते हैं, वे सामान्य आदमी के मन को मलिन बनाने वाले होते हैं। हम सोचें कि किसी की निन्दा करने से हमें क्या लाभ होगा ? निंदा करनी हो तो स्वयं द्वारा की गई गलतियों और भूलों के लिए अपनी निन्दा करें। दोषयुक्त परनिंदा तो कर्मों की दृष्टि से हमें भारी ही बनाएगी।

हम लोग प्रतिक्रमण करते हैं। उसमें आता है—**निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि**—निन्दा करता हूं, गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

दूसरों की निन्दा करने वाला व्यक्ति सोचे कि मैं कभी स्वयं की भी निन्दा करता हूं क्या ? मुझमें भी तो अनेक कमजोरियां हैं। गलतियां और भूलें मुझसे भी तो होती हैं। अगर वे मुझे दिखाई नहीं देतीं तो दूसरों का छिद्रान्वेषण मैं क्यों करूं ? अपनी भूलों और कमियों का तो पता भी चल जाता है, वे दिखाई भी दे जाती हैं, किन्तु दूसरों में कमियां हैं या नहीं, यह पता न हो तो उन्हें दूसरों के सामने प्रकट करने का मुझे क्या अधिकार है ? व्यक्ति को यह

सोचना चाहिए कि भाग्य से मुझे मनुष्य जीवन और भाषा में व्यक्त कर सकने में समर्थ वाणी मिली है तो इसका दुरुपयोग क्यों करूं ? वाणी का उपयोग पाप कर्मों का बंध कराने वाले कार्यों में क्यों करूं ?

हमारे द्वारा कोई ऐसा शब्द न निकल जाए, जिसके लिए बाद में पछताना पड़े। जरूरत हो तभी बोलें और सोच-समझकर विवेकपूर्वक बोलें, इसी में वाणी की सार्थकता है और इसी में अपना कल्याण भी निहित है।

१६. रति-अरति पाप

अठारह पापों में सोलहवां पाप है—रति-अरति। इसमें दो शब्द हैं—रति और अरति। रति का तात्पर्य है—रमण करना, अनुरक्त हो जाना, रुचि रखना और अरति का अर्थ है—अनुराग न रखना, रुचि न रखना, अरुचि रखना। असंयम में रति का होना और संयम में अरुचि या विकर्षण का होना रति-अरति पाप है। होना तो यह चाहिए कि संयम के प्रति आकर्षण हो और असंयम के प्रति अनाकर्षण हो। जितना-जितना आदमी के जीवन में संयम बढ़ता है, त्याग बढ़ता है, उससे धर्म की पुष्टि होती है और जितना जीवन में असंयम बढ़ता है, उससे अधर्म की वृद्धि होती है। गलत कार्यों का त्याग करना धर्म है। भोग में लिप्त होना अधर्म है, पाप है।

परम पूज्य गुरुदेव तुलसी ने संयम का संदेश दिया था। उन्होंने कहा—पूरा संयम ग्रहण नहीं कर सको तो अणुव्रतों को स्वीकार करो, कुछ अंशों में भी संयम को स्वीकार करो। जैन हो या अजैन, आस्तिक हो या नास्तिक, संयम का प्रयोग सभी के लिए कल्याणकारी है। अणुव्रत स्वीकार करने के लिए कौनसी जाति और कौनसा धर्म, यह विवेचन अपेक्षित नहीं है। मैं तो यहां तक कहता हूं कि कोई नास्तिक आदमी भी अणुव्रतों को स्वीकार करना चाहे तो मैं उसके लिए भी अनुमोदना करना चाहूंगा। नास्तिक अणुव्रती बनेगा तो उसका भी कल्याण होगा। नास्तिक आदमी परलोक में विश्वास नहीं करता, किन्तु वर्तमान लोक तो सामने है। वह अणुव्रतों को स्वीकार करेगा तो यहां तो अच्छा जीवन जी पाएगा। इस जीवन में हम दूसरों के लिए कष्ट देने वाले, समस्या पैदा करने वाले तो न बनें। अच्छा जीवन जी सके, इसलिए नास्तिक आदमी के लिए भी संयम की स्वीकृति सुखद है, आनन्दप्रद है, शांतिप्रद है, कल्याणकारी है।

अनादि काल का संस्कार होता है, जिससे असंयम के प्रति आदमी का आकर्षण हो जाता है। वह इन्द्रियों का असंयम, मन का असंयम, वाणी का असंयम और शारीरिक असंयम करता है।

जैन आगम ज्ञाताधर्मकथा में पुंडरीक-कुंडरीक का प्रसंग उपलब्ध होता है। पूर्वमहाविदेह क्षेत्र में पुण्डरीकिणी नामक नगरी थी। वहां के महापद्म राजा के दो पुत्र थे—पुंडरीक-कुंडरीक। एक बार धर्मघोष मुनि वहां पधारे। मुनि की वैराग्यगर्भित वाणी सुनकर महाराज महापद्म अपने बड़े पुत्र पुंडरीक को राज्य पद तथा छोटे पुत्र को युवराज पद देकर मुनि बन गए। कालान्तर में धर्मघोष मुनि पुनः उसी नगर में पधारे। इस बार महाराज पुंडरीक ने श्रावकधर्म स्वीकार किया और युवराज कुंडरीक मुनि बन गया। अरस-विरस आहार से मुनि के शरीर में पित्त-ज्वर और दाह-ज्वर हो गया, जिससे शरीर में भयंकर वेदना होने लगी। एक बार धर्मघोष मुनि कुंडरीक आदि साधुओं के साथ पुनः पुंडरीकिणी नगरी में पधारे। राजा पुंडरीक दर्शनार्थ आया। अपने छोटे भाई को व्याधिग्रस्त देखकर अपनी दानशाला में रहकर समुचित औषधोपचार कराने की प्रार्थना की। मुनि धर्मघोष ने निवेदन को स्वीकार किया। अनेक प्रकार की दवाइयां तथा समुचित पथ्य-सेवन से मुनि का शरीर रोग से मुक्त हो गया, किन्तु मन बीमार हो गया। मनोज्ञ भोजन में आसक्ति हो गई और आचार में शिथिलता आ गई। संयम के प्रति अरति होने लगी। पुनः गृहस्थवास में प्रवेश करने की भावना हो गई। किन्तु संकोचवश एक बार तो वहां से विहार कर दिया। कुछ दिनों बाद वापस पुंडरीकिणी नगरी में आ गए। भाई पुंडरीक मुनि कुंडरीक को वंदना करने गए और उनकी भावना को देखते हुए पूछा—क्या आपको भोगों से प्रयोजन है? मुनि कुंडरीक ने कहा—हां, मुझे भोग प्रिय लग रहे हैं। राजा पुंडरीक ने अपने पारिवारिक जनों को बुलाकर कुंडरीक का राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं ने पंचमुष्टि लुंचन कर संयम स्वीकार कर लिया। कुंडरीक प्रणीत भोजन-पान का सेवन करने लगा, किन्तु अतिजागरणा और अतिभोग के कारण उस आहार का सम्यक् परिणमन नहीं हुआ। कुछ ही दिनों में भयंकर व्याधि से ग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त कर सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ। उधर मुनि पुंडरीक ने अन्तिम समय निकट देखकर अनशन स्वीकार किया और समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त

कर सर्वार्थसिद्ध में उत्पन्न हुए। फिर वहां से च्यवन कर महाविदेह में सिद्ध होंगे।

संयम के प्रति होने वाली अरति ने जहां कुंडरीक को सातवीं नरक तक पहुंचा दिया, वहीं संयम के प्रति होने वाली रति ने पुंडरीक को सर्वार्थसिद्ध तक पहुंचा दिया।

अनेक लोग संयम की साधना करते हैं। छोटी अवस्था में भी अनेक साधु-साध्वियां दीक्षित हो जाते हैं। परम पूज्य गुरुदेव महाप्रज्ञजी जीवन के ग्यारहवें वर्ष में ही संत बन गए थे। लगभग आठ दशक का उनका संयमकाल, साधनाकाल रहा। जो भाग्यशाली होते हैं, हलुकर्मी होते हैं, जिनका क्षयोपशम प्रबल होता है, वे लोग संयम की साधना को प्राप्त करते हैं। सबके मन में संयम की भावना उत्पन्न ही नहीं होती। कुछ-कुछ व्यक्तियों में ही महाव्रतों और पूर्ण संयम को स्वीकार करने की भावना पैदा होती है। जिन लोगों के लिए साधु बनना संभव नहीं है, उन्हें कुछ अंशों में संयम को स्वीकार करने का प्रयास करना चाहिए।

जैन वाङ्मय में श्रावक के बारह व्रतों का उल्लेख है। श्रावक बारह व्रतों को स्वीकार करे तो कुछ अंशों में संयम जीवन में आ जाएगा। कोई अजैन व्यक्ति भी अणुव्रतों को स्वीकार करे तो जीवन में संयम आ जाएगा। जीवन में यदि संयम का थोड़ा अंश भी आता है, तो वह भी कल्याणकारी होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया—**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** अर्थात् धर्म का थोड़ा अंश भी जीवन में आता है, तो वह आदमी को महान् भय से उबारने वाला होता है। गृहस्थ यह सोचे—मैं हिंसा से कितना बच सकता हूं? जो अनावश्यक हिंसा है, जिसके बिना अच्छी तरह काम चल सकता है, उस हिंसा से बचने का प्रयास करूं। जमीकंद खाए बिना भी काम चल सकता है तो जमीकन्द को छोड़ने का नियम स्वीकार करूं। रात में बिना खाए मेरा काम चल सकता है तो रात्रिभोजन का त्याग करूं। वह भी संयम की साधना होगी। साधु-साध्वियों के लिए तो जीवनभर का रात्रिभोजन विरमण व्रत होता है। रात्रि भोजन का त्याग है तो संयम की दिशा में प्रस्थान है। पेड़-पौधों को न काटने का संकल्प है, वह भी हिंसा से बचने का प्रयास है। इस प्रकार नाना

रूपों में हिंसा का अल्पीकरण किया जा सकता है।

कषाय मन्दीकरण का अभ्यास करना चाहिए। व्यक्ति को यह संकल्प करना चाहिए कि मैं किसी को कटु जबान न कहूं, मैं किसी का अपमान न करूं, अवहेलना न करूं। यह भी संयम का प्रयोग है। गृहस्थ यह सोचे—मैं यथासंभव झूठ का वर्जन करने का प्रयास करूं। संकल्प हो, लक्ष्य हो कि मुझे झूठ से बचने का प्रयास करना है तो वह झूठ से काफी बच सकता है। जिसको झूठ से बचना हो, उसको बोलने का भी संयम करना चाहिए, ज्यादा नहीं बोलना चाहिए। ज्यादा बोलने से कभी-कभी अनजान में भी मुख से असत्य बात निकल सकती है। एक जगह कहा गया है कि सत्य का शत्रु है वाचालता। जो वाचाल होता है कई बार उससे असत्य का प्रयोग हो जाता है। इसलिए आदमी को सत्य की साधना करनी हो तो वाचालता से बचना चाहिए।

व्यक्ति को मौन का भी अभ्यास करना चाहिए। अनावश्यक नहीं बोलना सबसे अच्छा मौन है। अपेक्षावश शब्दों का प्रयोग करना होता है और अपेक्षा नहीं हो तो मौन रखना श्रेयस्कर होता है। व्यक्ति के मन में सच्चाई के प्रति रति हो जाए। अठारह पाप में जो रति-अरति है, उसको उल्टा कर दिया जाये। असंयम में जो रति है, वह संयम में हो जाए, तो पाप की जगह धर्म हो जाएगा और संयम में जो अरति है, वह असंयम में हो जाए तो पाप की जगह धर्म हो जाएगा। व्यक्ति का सच्चाई के प्रति आकर्षण हो। यह आदमी की कमजोरी है कि वह भयवश झूठ बोल देता है, क्रोधवश झूठ बोल देता है, कभी लोभवश झूठ बोल देता है, कभी हंसी-मजाक में झूठ बोल देता है। व्यक्ति लक्ष्य बनाए कि सच्चाई के प्रति प्रेम हो जाए और झूठ से दुश्मनी हो जाए, घृणा हो जाए, अरति हो जाए। चोरी के प्रति घृणा हो जाए और अचौर्य के प्रति रति हो जाए, प्रेम हो जाए। यह संकल्प हो कि मैं चोरी की चीज नहीं लूंगा। किसी को ठगूंगा नहीं, धोखा नहीं दूंगा।

बेईमानी से पैसा कमाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। आदमी ईमानदारी से हजार रुपया भी कमाता है तो वह भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है और धोखा करके करोड़ भी कमा लेता है तो वह भी व्यर्थ है। शुद्ध कमाई महत्त्वपूर्ण होती है, अशुद्ध कमाई व्यर्थ है। आदमी को अशुद्ध साधनों से बचने का प्रयास

करना चाहिए। इसी तरह शील के प्रति रति हो और अशील के प्रति घृणा हो। गृहस्थ को परिग्रह चाहिए, क्योंकि गृहस्थ जीवन में प्रायः पैसे के बिना काम नहीं चलता। परन्तु पैसा भी किस तरीके से आता है और पैसे के प्रति मोह कितना है? इस पर भी ध्यान देना चाहिए। पैसे के प्रति ज्यादा मोह नहीं होना चाहिए।

आदमी में त्याग और अपरिग्रह की चेतना जागृत रहनी चाहिए। सांसारिक दृष्टि से दूसरों के हित में दान किया जाता है, वह सांसारिक या लौकिक अनुकम्पा की बात हो जाती है। व्यक्ति की अपरिग्रह के प्रति रति हो और परिग्रह के प्रति अरति की भावना हो तो धर्म की साधना हो जाती है।

हम संयम के प्रति आकर्षण बढ़ाने का प्रयास करें, भोग से त्याग की ओर आगे बढ़ें, राग से विराग की ओर आगे बढ़ें, मनोरंजन से आत्मरंजन की ओर आगे बढ़ें, अज्ञान से ज्ञान की ओर आगे बढ़ें। हमारी अभिमुखता कल्याण की ओर हो जाए। जो अच्छाइयां हैं, विशेषताएं हैं, हमें उन्हें आत्मसात् करने का प्रयास करना चाहिए। जीवन में संयम बढ़ेगा तो वह मात्र इस जीवन के लिए ही नहीं, आगे के लिए भी कल्याणकारी है, आत्मा के लिए कल्याणकारी है। हम पापों को छोड़ने का या पापों को कम करने का प्रयास करें और धर्म को समृद्ध करने का, पुष्ट करने का अभ्यास करें।

१७. मायामृषा पाप

आर्हत वाङ्मय में कहा गया है—**अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए** अर्थात् मेधावी पुरुष अणुमात्र यानी थोड़ी-सी भी माया और मृषा का प्रयोग न करे। अठारह पापों में सतरहवां पाप है मायामृषा पाप। इसमें दो पापों का मिश्रण है माया और मृषा। वैसे तो दोनों पाप अलग-अलग रूप में अठारह पापों में उल्लिखित हो चुके हैं। मृषावाद पाप भी आ चुका है और माया पाप भी आ चुका है, किन्तु सतरहवें पाप में दो पापों का मिश्रण बताया गया है, माया युक्त मृषा बोलना। केवल झूठ ही नहीं, साथ में माया का भी प्रयोग करना। संभवतः बुद्धिमान आदमी ज्यादा मायामृषा का प्रयोग कर सकता है। कम पढ़ा लिखा आदमी उतना न भी कर सके, किन्तु बुद्धिमान आदमी अच्छे तरीके से, चातुर्य से, होशियारी के साथ मायामृषा कर सकता है। सामने वाले व्यक्ति को ठग भी सकता है। सच्चाई-सरलता का मार्ग सीधा-सपाट मार्ग है। मायामृषा का मार्ग उबड़-खाबड़, टेढ़ा-मेढ़ा, कंटकाकीर्ण होता है। फिर भी लोग उस पर चल लेते हैं। वे दीर्घकालिक लाभ की या तो उपेक्षा करते हैं या पहचानते नहीं हैं और तात्कालिक लाभ के लिए शोर्टकट रास्ता ले लेते हैं।

मनुष्य को यह विचार करना चाहिए कि झूठ-कपट का मार्ग जहां पहुंचाएगा, वह मंजिल दुःखद होगी और सच्चाई-सरलता का मार्ग जहां पहुंचाएगा, वह मंजिल सुखद होगी। सच्चाई के पथ में संकट आ सकते हैं। विकट संकट पैदा हो सकते हैं। उन कठिनाइयों में अगर आदमी मनोबल रख सके तो आगे मंजिल बड़ी सुखद होगी। वह शाश्वत सुख देने वाली हो सकेगी। झूठ बोलने वाले को कितनी बात याद रखनी पड़ती है कि मैंने यह कहा था वापस मुझे यही कहना है आदि-आदि। सत्य बोलने वाला निश्चिन्त

रहता है कि बस यही बात है भले रात को पूछो, भले दिन में। झूठ बोलने वाले के दिमाग में कितना तनाव रहता है। फिर भी आदमी झूठ का रास्ता ले लेता है। साधना के क्षेत्र में कपट त्याज्य है, सच्चाई-सरलता उपास्य है। व्यवहार के जगत में भी झूठ-कपट आखिर व्यावहारिक समस्या पैदा करने वाला तत्त्व है और सच्चाई-सरलता खूब निश्चिन्तता, तनाव मुक्तता प्रदान करने वाला तत्त्व होता है। छल-कपट करने वाले व्यक्ति की अगली गति खराब हो सकती है।

सरलता जीवन का श्रृंगार है, सच्चाई पवित्रता का आधार है। सच्चाई और ऋजुता का जोड़ा है। झूठ और माया का जोड़ा है। दोनों जोड़े एक-दूसरे से विलोम हैं।

ऋजुता का विलोम शब्द है माया। धर्म के क्षेत्र में, अध्यात्म की साधना में ऋजुता का बड़ा महत्त्व होता है। जो व्यक्ति ऋजु होता है, उसका पाप से कुछ बचाव हो सकता है। जहां कथनी और करनी में विसंवाद नहीं होता, भाव ऋजुता, भाषा ऋजुता, काय ऋजुता होती है, वहां माया नहीं होती। मुंह से कुछ कहना तथा करना कुछ और, यह संवाद नहीं है, विसंवाद है। व्यक्ति को सच्चाई का प्रयोग करना चाहिए, सरलता रखनी चाहिए।

कई बार साधु से भी प्रमादवश, छद्मस्थतावश कुछ माया और कदाचित् मृषा का भी प्रयोग हो सकता है। जो छद्मस्थ होता है, वही माया कर सकता है, वही मृषावाद कर सकता है। केवलज्ञानी कभी माया नहीं करता और मृषा का प्रयोग भी नहीं करता। साधु का कर्तव्य है कि वह विशेष रूप से माया-मृषा से मुक्त रहे और यथार्थ के पथ पर चले। मैं तो गृहस्थों से भी कहना चाहूंगा कि सरलता का प्रयास करना चाहिए। परम पूज्य कालूगणी उस साधु को ज्यादा पसन्द करते या उसे ज्यादा वत्सलता देते जो सरल होता और आचार सम्पन्न होता। सरल व्यक्ति के प्रति आकर्षण बढ़ता है। जो कुटिलता करने वाला हो, उसके प्रति आकर्षण कैसे बढ़े?

एक ग्रामीण राजमार्ग पर एक ढाबा चलाता था। वह जोर-जोर से बोल रहा था—आओ गरमागरम पूड़ियां खाओ। एक राहगीर जा रहा था। उसने सोचा, यहीं भोजन कर लूं, आगे कहां मिलेगा? यहां तो गरमागरम पूड़ियां

मिलेंगी। वह वहां जाकर बैठा। जितना निर्धारित मूल्य था, दे दिया। उस ढ़ाबे वाले आदमी ने छह-सात पूड़ियां परोसीं। उन पूड़ियों में दो तो गरम पूड़ियां थीं, बाकी चार-पांच पूड़ियां तो बिल्कुल ठण्डी-बासी थी।

राहगीर बोला—भाई! तुमने तो कहा था कि गरमागरम पूड़ियां खाओ। इतनी पूड़ियां तो ठण्डी पड़ी हैं।

ढ़ाबे का मालिक बोला—मैंने झूठ क्या बोला? ध्यान से सुना तुमने, मैंने क्या कहा था? मैंने कहा था गरमागरम पूड़ियां खाओ। गरमागरम का मतलब है—गरम और अगरम। कुछ गरम खाओ, कुछ ठण्डी खाओ।

मायावी आदमी ठगने का प्रयास करता है, परन्तु यह ठगी आत्मा को मलिन बनाने वाली होती है। जो गृहस्थ हैं, वे भले नौकरी करते हों, व्यापार करते हों, कोई भी धन्धा करते हों। धंधे के सिवाय भी व्यवहार चलता है। उनका यह प्रयास होना चाहिए कि कपट का प्रयोग न हो, माया और मृषा का प्रयोग न हो। लक्ष्य बड़ी चीज है। जिस चीज का लक्ष्य बन जाता है और फिर पुरुषार्थ होता है तो आदमी उस दिशा में आगे बढ़ सकता है। व्यक्ति लक्ष्य बनाए कि मुझे मायामृषा पाप से बचना है। माया और मृषा दोनों पापों को बताने के बाद पुनः दोनों पाप के साहचर्य की ओर संकेत किया गया है, इसमें एक यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि झूठ पाप है, किन्तु माया युक्त झूठ बोलना और ज्यादा बड़ा पाप या सघन पाप होता है। अध्यात्म की साधना में माया का स्थान नहीं है। माया युक्त मृषा को भी स्थान नहीं है। साधु के लिए तो यह ध्यातव्य है कि कष्ट भले आ जाए, परन्तु गलत बोलने से साधु को बचना चाहिए। झूठ बोलकर एक बार अपना काम निकाल लेना, कोई ज्यादा फायदे वाली बात नहीं होती। ठीक कहा गया—

भूल छिपाना पाप है, करो निवेदन साफ।
यहां बचोगे पर नहीं, आगे होगी माफ।।

कोई भूल हो गई हो तो गुरु आदि के द्वारा पूछे जाने पर जरूर बता दो कि मुझसे यह भूल हो गई है। भूल को छिपाने का प्रयास करोगे तो यहां कदाचित् बच भी जाओगे, किन्तु आगे कैसे बच पाओगे? वहां पाई-पाई का

हिसाब होता है। इसलिए भूल का परिष्कार करने का प्रयास करना चाहिए। जैन वाङ्मय में कहा गया—

अणायारं परक्कम्म, नेव गूहे न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे, असंसत्ते जिइंदिए।।

कभी कोई अनाचार का सेवन हो जाये तो उसे छिपाओ मत, अपलाप मत करो। पवित्र हृदय से निष्कपट भाव से स्पष्टतया उसे स्वीकार कर लो। स्वीकार कर लेना भी एक प्रकार से किए हुए दोष पर चोट पहुंचाना है कि मुझसे यह भूल हो गई है। व्यक्ति को अपनी भूल को यथास्थान स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिए। भूल को स्वीकार करना बड़ी बात है। जिन्दगी में भूलें तो हो सकती हैं। कभी जानते हुए भी हो सकती हैं और कभी अनजान में भी हो सकती हैं। शास्त्रकार ने कहा—**बीयं तं न समायरे** अर्थात् एक बार जो भूल हो गई है, दुबारा उस भूल की आवृत्ति मत करो, पुनरावृत्ति मत करो। भूल का परिष्कार करने से जीवन में विकास होता है। ऋजुता एक ऐसा सद्गुण है, जो आत्मा को निर्मल बनाने वाला है। व्यक्ति इस मायामृषा के पाप से बचने का प्रत्यन्न करे, सरलता का अभ्यास करे तो वह आत्म-कल्याण की दिशा में आगे बढ़ सकता है।

१८. मिथ्यादर्शनशल्य पाप

आर्हत वाङ्मय में कहा गया है—**मिच्छत्तं परियाणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि** अर्थात् मैं मिथ्यात्व का परित्याग करता हूं और सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूं। अठारह पापों में अन्तिम पाप है मिथ्यादर्शनशल्य पाप। अनेक लोगों का दृष्टिकोण मिथ्या हो सकता है। समग्र जीव जगत की दृष्टि से विचार किया जाए तो अनंत जीव ऐसे हैं, जो मिथ्यात्व से युक्त हैं। मैं सिद्धान्त के सन्दर्भ में तो यह कह सकता हूं कि हम सभी कभी न कभी मिथ्या दृष्टिकोण वाले ही थे। ऐसा कौनसा मनुष्य है, जो अनंतकाल में सदा सम्यक्दृष्टि वाला था। मेरे खयाल में ऐसा कोई नहीं मिलेगा। कभी न कभी तो हर प्राणी मिथ्यादृष्टि संपन्न रहा है। ध्यातव्य यह है कि आदमी का दृष्टिकोण आत्मा से जुड़ा हुआ है या पदार्थ जगत से जुड़ा हुआ है। आदमी तत्त्व को यथार्थ रूप में स्वीकार करता है अथवा अयथार्थ तत्त्व के प्रति आस्था रखता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—**अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धा मिथ्यात्वम्** अर्थात् जो तत्त्व नहीं है, उसे तत्त्व मान लेना मिथ्यात्व है। जैनधर्म में मिथ्यादृष्टि को त्याज्य तत्त्व माना गया है और सम्यक्त्वी बनने की कामना की गई है। यहां देव, गुरु, धर्म की त्रिपदी है। देव कौन, गुरु कौन और धर्म कौनसा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया—

अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिर्या, मिथ्यात्वं हि तदुच्यते।।

जो देव नहीं है, धर्म के क्षेत्र में उसे देव मान लेना। जो सुगुरु नहीं है, उसे गुरु मान लेना और जो धर्म नहीं है, उसको धर्म मान लेना मिथ्यात्व है। जैन वाङ्मय में पचीस बोल नामक एक छोटा-सा ग्रंथ है। उसके तेरहवें बोल में दस प्रकार के मिथ्यात्व बताए गए हैं—धर्म को अधर्म मानना, अधर्म को धर्म

मानना, मार्ग को कुमार्ग मानना, कुमार्ग को मार्ग मानना, जीव को अजीव मानना,अजीव को जीव मानना, साधु को असाधु मानना, असाधु को साधु मानना, मुक्त को अमुक्त मानना, अमुक्त को मुक्त मानना। आदमी का बिल्कुल सही श्रद्धान हो जाता है तो वह सम्यक् दृष्टिसंपन्न बन जाता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसकी दृष्टि कहां टिकी हुई है ? कोई व्यक्ति सुख में भी दुःख निकाल सकता है और कोई दुःख में भी सुख निकाल सकता है।

एक आदमी ने एक-एक रुपये में लॉटरी के दो टिकट खरीदे। संयोग की बात उसके एक टिकट पर एक लाख का ईनाम उठा। समाचार पत्रों में भी यह सूचना छप गई। उस व्यक्ति के जान-पहचान के लोग उसे बधाई देने उसके घर आए तो देखा वह शोकमग्न अपने कमरे में लेटा हुआ है। लोगों को आश्चर्य हुआ। लाख रुपये का ईनाम मिला और यह व्यक्ति मातम मना रहा है। उदास मन से वह उठा तो लोगों ने कहा—बधाई हो भाई, तुम लखपती बन गए। तुम्हें तो खुश होना चाहिए। उसने उदास मन से कहा—कैसी खुशी? मैंने तो घाटा उठाया है। लोगों ने कहा—घाटा कैसे ?

उस व्यक्ति ने कहा—मैंने लॉटरी के दो टिकट खरीदे थे। ईनाम एक पर ही उठा। दूसरे टिकट का एक रुपया बेकार चला गया। इसका मुझे दुःख है।

एक लाख मिलने का सुख नहीं, एक रुपया चले जाने का दुःख जिसे हो, उसे सुखी कौन बना सकता है ? धन मिलने पर राजी होना और धन चले जाने पर दुःखी होना कोई साधना की बात नहीं है। यह एक स्थूल उदाहरण है कि आदमी सुख में से भी दुःख कैसे निकाल लेता है। अब इसका एक विपरीत उदाहरण देखें—

एक प्रबुद्ध आदमी जा रहा था। रास्ते में उसने एक विकलांग को देखा, जिसके न हाथ थे, न पांव। उसका एक सहयोगी व्यक्ति ठेले पर बैठाकर उसकी सहायता करता था। हाथ-पैर से हीन उस व्यक्ति के चेहरे पर प्रसन्नता चमक रही थी। उसे प्रसन्न देख उस प्रबुद्ध व्यक्ति को आश्चर्य हुआ। उससे पूछे बिना रहा नहीं गया। उसने पूछा—भाई! दुःख और उदासी स्वस्थ और सकलांग लोगों के चेहरों पर भी आ जाती है। तुम तो हाथ और पैरों से हीन

हो, जीवन का एक बड़ा भाग अभी तुम्हारे सामने है, फिर भी तुम्हारे चेहरे पर निश्चिंतता और प्रसन्नता के भाव हैं, इसका राज क्या है?

विकलांग व्यक्ति बोला—महाशय ! मेरे हाथ-पैर नहीं हैं तो क्या हुआ, देखने के लिए दो आंखें तो हैं, बोलने के लिए वाणी तो है, सुनने के लिए कान तो हैं और चिंतन-मनन के लिए स्वस्थ मस्तिष्क तो मेरे पास है। जब इतनी सारी अनुकूलताएं मुझे प्राप्त हैं तो एक-दो चीजों के अभाव में मैं दुःखी क्यों बनूं? मुझे जितना भी प्राप्त है, उससे मुझे संतोष है और यही संतोष मुझे प्रसन्नता देता है।

आदमी का जैसा चिंतन और दृष्टिकोण होता है, वह उसी रूप में आगे बढ़ता है। एक आदमी सोचता है इधर भी रात और उधर भी रात और बीच में सिर्फ एक दिन है। इतना काम कैसे पूरा होगा। दूसरा आदमी सोचता है इधर भी दिन और उधर भी दिन। बीच में सिर्फ एक रात है। काम करने का कितना अवसर है। यथार्थ यह है कि एक दिन और एक रात का क्रम चलता है। कौन आदमी इसे किस रूप में लेता है यह उसके चिंतन और दृष्टिकोण पर निर्भर है।

हंस की दृष्टि मोती पर होती है और बगुलों की दृष्टि मछलियों पर। समान रंग-रूप के होते हुए भी दोनों की वृत्ति में कितना बड़ा अन्तर होता है। यही अन्तर आदमी-आदमी के बीच में भी होता है। एक आदमी का दृष्टिकोण आत्मकल्याण पर टिका होता है, साधना पर टिका होता है, अहिंसा, सचाई, ईमानदारी और संयम पर टिका होता है और दूसरे आदमी का दृष्टिकोण शरीर के आसपास सीमित रहता है। वह असत्य, हिंसा, चौर्यवृत्ति और छल-कपट में रस लेता है। दोनों में बहुत अन्तर है। आदमी की जैसी दृष्टि होती है, उसके लिए सृष्टि वैसी बन जाती है। मुझे अपने बाल्यकाल की स्मृति हो रही है। सरदारशहर में कुछ अवसरों पर मेले लगते थे। उन मेलों में जाने के लिए बच्चों में बहुत उत्साह रहता था। बच्चे वहां खिलौनों के साथ रंगीन चश्मे भी खरीदते थे। उन रंगीन चश्मों में खास बात यह होती थी कि जिस रंग का चश्मे का कांच होता था, वही रंग चश्मा लगाने वाले को दिखाई देता था। कहते हैं जिसे पीलिया रोग हो जाता है, उसे हर चीज पीले रंग की दिखाई देने लगती है। यही

बात दृष्टिकोण के बारे में भी लागू होती है। आदमी का जैसा दृष्टिकोण होता है,उसे हर चीज वैसी ही दिखाई देती है।

दृष्टि यथार्थपरक होनी चाहिए। जो जैसा है, उसे वैसा ही देखना चाहिए। हर चीज को अलग-अलग चश्मे से देखने की जरूरत नहीं। दृष्टि कमजोर होने पर पावर का चश्मा लगाना अलग बात है, पर दुनिया को रंगीन देखने के लिए रंगीन चश्मा क्यों लगाया जाए ? दुनिया जैसी है, उसे उसी रूप में देखने का प्रयास हो। जो चीज जैसी नहीं है, उसे वैसी मान लेना मिथ्यात्व है, जबकि तत्त्व को यथार्थ रूप में स्वीकार करना सम्यक्त्व है। यथार्थपरक दृष्टिकोण सम्यक दृष्टिकोण है। अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में सम्यक्त्व का बड़ा महत्व है।

परम उपलब्धि है सम्यक्त्व। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि सम्यक्त्व दो प्रकार से प्राप्त हो सकती है—**तन्निसर्गात्, अधिगमात् वा** अर्थात् निसर्ग से भी सम्यक्त्व प्राप्त हो सकती है और अधिगम से भी प्राप्त हो सकती है। अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क के दूर होने से और दर्शनावरणीय कर्म के विलीन होने से जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, वह निसर्ग सम्यक्त्व है। दूसरों के उपदेश से या किसी के समझाने से जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, वह अधिगम सम्यक्त्व है।

जिज्ञासा हो सकती है कि किसमें सम्यक्त्व है, इसका हम निश्चय कैसे करें? यद्यपि निश्चय को जानना तो हमारे लिए कठिन है, परन्तु शास्त्रों में सम्यक्त्व के पांच लक्षण बताए गए हैं। उन लक्षणों से हम अनुमान लगा सकते हैं कि सम्यक्त्व है या नहीं। वे लक्षण ये हैं—

- जिसके क्रोध आदि कषाय शांत होते हैं।
- जिसमें मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा रहती है।
- जिसमें संसार से विरति होती है।
- जिसमें प्राणिमात्र के प्रति दया का भाव होता है।
- जिसका आत्मा, कर्म आदि में विश्वास होता है।

सम्यक्त्वी है तो मानना चाहिए कि नींव मजबूत है। अंक एक के आगे शून्य लगेंगे तो संख्या बढ़ती जाएगी, लेकिन अंक के बिना लाखों शून्यों का

भी कोई महत्व नहीं होता। सम्यक्त्व मूल अंक के समान है। उसके साथ साधनारूपी शून्य उसके महत्व को बढ़ाता है।

परमपूज्य गुरुदेव तुलसी ने 'जैन सिद्धान्त दीपिका' में सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, आश्रव, संवर आदि का सुन्दर विश्लेषण किया है। हमारा तात्विक ज्ञान स्पष्ट हो जाए तो साधना की अनेक बातें समझ में आ सकती हैं। हमारे यहां की तो यह विधि है कि किसी को दीक्षा देने से पहले उसे नवतत्त्व का ज्ञान होना जरूरी माना जाता है। नवतत्त्व को जो नहीं जानता, वह दीक्षा का अधिकारी नहीं हो सकता। वैरागी को नवतत्त्व की जानकारी इसलिए आवश्यक है कि उसे मौलिक तत्वज्ञान प्राप्त हो जाए। यदि मूल तत्वज्ञान ठीक है, आचार के बारे में सम्यक ज्ञान है, उसके प्रति श्रद्धा है, निष्ठा है, रुचि है तो आचार का सम्यक परिपालन हो सकता है। सम्यक्त्वी साधक ही शुद्ध आचार का पालन कर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

आचार्य महाश्रमण : एक परिचय

आचार्य महाश्रमण उन महान संत-विचारकों में से एक हैं जिन्होंने आत्मा के दर्शन को न केवल व्याख्यायित किया है, अपितु उसे जीया भी है। वे जन्मजात प्रतिभा के धनी, सूक्ष्मद्रष्टा, प्रौढ़ चिंतक एवं कठोर पुरुषार्थी हैं। उनकी प्रज्ञा निर्मल एवं प्रशासनिक सूझबूझ बेजोड़ है। एक विशुद्ध पवित्र आत्मा जिनके कार्यों में करुणा, परोपकारिता एवं मानवता के दर्शन होते हैं तथा जिनकी विनम्रता, सरलता, साधना एवं ज्ञान की प्रौढ़ता भारतीय ऋषि परम्परा की संवाहक दृष्टिगोचर होती है।

१३ मई, १९६२ को राजस्थान के एक कस्बे सरदारशहर में जन्मे एवं ५ मई, १९७४ को दीक्षित हुए आचार्य महाश्रमण अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ की परम्परा में तेरापंथ धर्मसंघ के ११वें आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति और मानवीय चरित्र के उत्थान के लिए समर्पित आचार्य महाश्रमण आर्षवाणी के साथ अध्यात्म एवं नैतिकता, अनुकंपा और परोपकार, शांति और सौहार्द जैसे मानवीय मूल्यों एवं विषयों के प्रखर वक्ता हैं।

वे एक साहित्यकार, परिव्राजक, समाज सुधारक एवं अहिंसा के व्याख्याकार हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के साथ अहिंसा यात्रा के अनन्तर आपने लाखों ग्रामवासियों एवं श्रद्धालुओं को नैतिक मूल्यों के विकास, साम्प्रदायिक सौहार्द, मानवीय एकता एवं अहिंसक चेतना के जागरण के लिए अभिप्रेरित किया।

'चरैवेति-चरैवेति' इस सूक्त को धारणकर वे लाखों-लाखों लोगों को नैतिक जीवन जीने एवं अहिंसात्मक जीवनशैली की प्रेरणा देने के लिए पदयात्राएं कर रहे हैं।

अत्यन्त विनयशील आचार्य महाश्रमण अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान एवं अहिंसा प्रशिक्षण जैसे मानवोपयोगी आयामों के लिए कार्य कर तनाव, अशांति तथा हिंसा से आक्रांत विश्व को शांति एवं संयमपूर्ण जीवन का संदेश दे रहे हैं।

शांत एवं मृदु व्यवहार से संवृत्त, आकांक्षा–स्पृहा से विरक्त एवं जनकल्याण के लिए समर्पित युवा मनीषी आचार्य महाश्रमण भारतीय संत परम्परा के गौरव पुरुष हैं।

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रमुख कृतियां

आओ हम जीना सीखें

जीता हर कोई है, किन्तु कलापूर्ण जीना कोई-कोई जानता है। प्रस्तुत पुस्तक में आचार्यश्री महाश्रमण ने कलात्मक जीवन के सूत्रों को प्रकाशित करते हुए जीवन की प्रत्येक क्रिया का व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया है। वस्तुतः यह कृति 'कैसे जीएं' इस प्रश्न का सटीक समाधान है।

क्या कहता है जैन वाङ्मय

इस पुस्तक में जैन शास्त्रों में उपलब्ध सफलता के सूत्रों में से चुनिंदा मोतियों को पिरोया गया है। प्रस्तुत कृति आचार्यश्री महाश्रमण के हृदयस्पर्शी प्रवचनों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

दुःख मुक्ति का मार्ग

आचार्यश्री महाश्रमण ने इस पुस्तक में साधना के रहस्यों को प्रस्तुत किया है। सुख, शांति और आनंद की प्राप्ति में यह कृति मार्गदर्शक की भूमिका अदा करती है।

संवाद भगवान से

प्रतिष्ठित जैनागम उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन पर आधारित इस पुस्तक में भगवान महावीर और उनके प्रमुख शिष्य गौतम के रोचक संवाद के माध्यम से मन में संशय पैदा करने वाले प्रश्नों को विस्तृत रूप में समाहित किया गया है। यह कृति दो भागों में उपलब्ध है।

महात्मा महाप्रज्ञ

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ तेरापंथ के आचार्य, अनुशास्ता, साहित्यकार और प्रवचनकार थे। इन सबसे पहले वे एक सन्त थे, महात्मा थे, उनकी आत्मा में महानता थी। उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाश्रमण ने उन्हें नजदीकी से देखा और जाना। प्रस्तुत पुस्तक में श्री महाप्रज्ञ के नौ दशकों के इतिहास और रहस्यों को उजागर किया गया है।

रोज की एक सलाह

लघु आकार में प्रस्तुत यह पुस्तक 'गागर में सागर' उक्ति को चरितार्थ करती है। आचार्य महाश्रमण द्वारा सूक्तियों में दी गई 'रोज की एक सलाह' हर व्यक्ति के लिए प्रतिदिन की पर्याप्त खुराक है। सदा साथ रखी जा सकने वाली यह कृति न केवल सफलता की प्राप्ति में सहायक है, अपितु व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान में भी इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

१. सुखी बनो २. सम्पन्न बनो ३. विजयी बनो

आचार्य महाश्रमण ने प्रस्तुत तीनों पुस्तकों में श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन की तुलनात्मक विवेचना करते हुए साधक का सुन्दर पथदर्शन किया है। तीन भागों में उपलब्ध यह ग्रन्थमाला जहां दो महनीय ग्रन्थों को युगीन रूप में प्रस्तुति देती है, वहीं अध्यात्मरसिकों के लिए पोषक का कार्य भी करती है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रस्तुत पुस्तक में जैन तत्त्वज्ञान, साधना के प्रयोगों, महापुरुषों और उनके अवदानों आदि विविध विषयों से संबद्ध उपयोगी और प्रेरणास्पद सामग्री संजोई गई है।

शिलान्यास धर्म का

धर्म का आदि बिन्दु है - सम्यक्त्व। आचार्य महाश्रमण की प्रस्तुत कृति सम्यक्त्व, उसके लक्षण, दूषण, भूषण तथा देव, गुरु, धर्म आदि विषयों पर आधारित प्रवचनों और प्रश्नोत्तरों का संग्रह है। जैन अनुयायियों की आस्था के दृढ़ीकरण में यह कृति सहायक की भूमिका अदा करती है।

● प्राप्ति स्थान ●

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६, जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (०१५८१) २२६०८०/२२४६७१

ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

जिनका चिन्तन
चित्त को प्रसन्नता और
चेतना को पवित्रता प्रदान करता है।

प्राणी के सुख दुःख में पुण्य पाप का योग रहता है। सत्क्रिया से पुण्य और असत्क्रिया से पाप का बंध होता है। जैन वाङ्मय में पाप का बंध करने वाली अठारह प्रवृत्तियां बताई गई है। उन्हें 'अठारह पाप' कहा जाता है। प्राणी के भवभ्रमण में पाप जिम्मेवार होते हैं। परम सुख की प्राप्ति के लिए इन अठारह पापों का परित्याग आवश्यक है।

www.acharyamahashraman.in

₹ 80/-